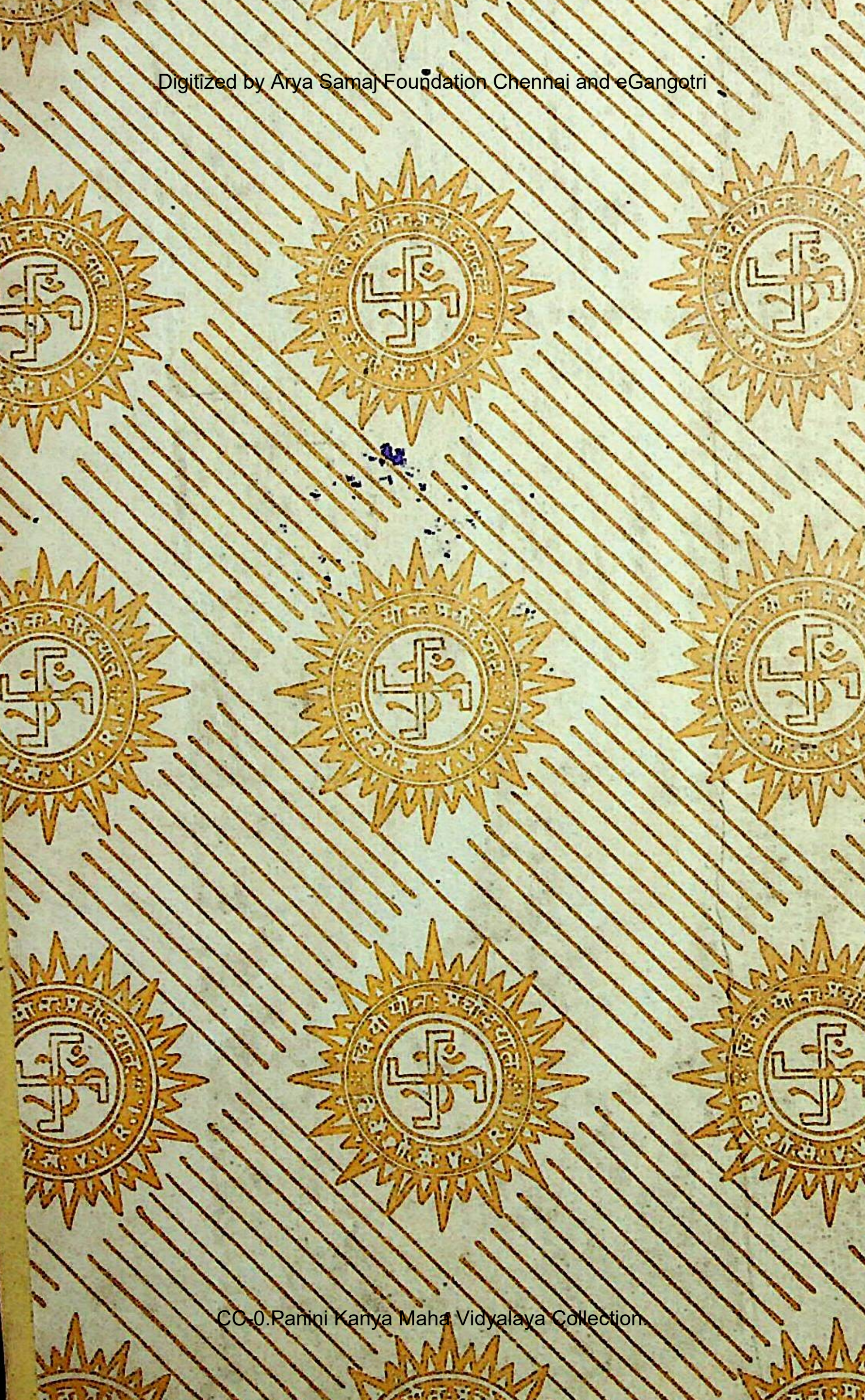
सदाचार-शास्त्र

प्रथम भाग



आ.पु.



1246



विश्वेश्वरानन्द संस्थान प्रकाशन—२४६
Vishveshvaranand Institute Publication-246

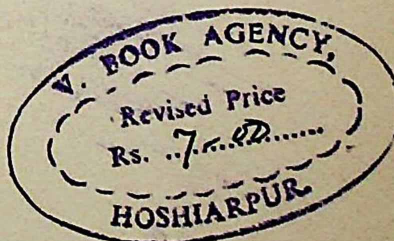
नित्यानन्द विश्व ग्रन्थमाला
NITYANAND UNIVERSAL SERIES

ग्रन्थ ५
Volume 5





१९६३



मुख्य सम्पादक
विश्वबन्धु

प्रकाशक
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,
साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब, भारत)

नि. वि. ग्रन्थमाला—५

सदाचार-शास्त्र

प्रथम भाग

[विदुर, शुक्र, चाणक्य एवं भर्तृहरि-
प्रणीत नीतिओं का सटीक संग्रह]



देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर

- पंजाब सरकार (भाषा-विभाग) की सहायता से प्रकाशित
- तृतीय संस्करण १९६३ (वि. २०२०)
- मूल्य [redacted]
-
-
-
- मुद्रक एवं प्रकाशक

देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,
वि. वैदिक-शोध-संस्थान प्रेस,
साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब, भारत)





स्वामी नित्यानन्द जी

(१८६०—१९१४)

स्वामिविश्वेश्वरानन्द-सायुज्येनादितः किल ।
वैदिके कोषनिर्माणे प्रवृत्तं प्रयतं यतिम् ॥ १ ॥
दिव्यकान्तिधरं दान्तं दिव्याचारं सुवाग्मिनम् ।
पुण्यश्लोकं तमार्येन्द्रं नित्यानन्दं वयं नुमः ॥ २ ॥

"विश्वबन्धु"

सम्पादकीय

आज से लगभग तिहत्तर वर्ष (७३) पहले की बात है। दो महात्मा उत्तर भारत में इधर-उधर विचरते हुए एकाएक कहीं पर एक-दूसरे से आ मिले। और, मिले भी ऐसे कि जैसे, मानो, जमुना गंगा में और गंगा जमुना में आ मिली हों और सदा के लिए समरस होकर त्रिवेणी से एक धारा बनकर बहने लगी हों। भले ही उन महात्माओं के देह अलग-अलग बने रहे, परन्तु उनके आत्माओं का अद्भुत संमिश्रण स्थापित हो गया। उन दोनों के हृत्तल नितान्त अभिन्न आन्तरिक धारणाओं और प्रेरणाओं द्वारा तरङ्गित हो उठे। वे धारणाएँ थीं, आर्य संस्कृति के प्रकर्ष की और उस संस्कृति के वैदिक मूल स्रोत की प्रतिष्ठा की। वे प्रेरणाएँ थीं, उससे कुछ ही वर्ष पहले आरम्भ हो चुके नए युग में वेदों के पुनरुद्धारक और आर्य संस्कृति के प्रमुख संदेशवाहक अपने से एक और महत्तर महात्मा के आरम्भ किए कार्य की और उसे आगे ले चलने और बढ़ाने की। वे महात्मा थे स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी तथा ब्रह्मचारी (पीछे, स्वामी) नित्यानन्द जी, जिनका सन् १८९० से लेकर बराबर पच्चीस बरस तक सभी कार्यक्रम इकट्ठा चलता रहा। उनका जीवन-व्रत रहा स्वामी दयानन्द जी के चरण-चिह्नों पर चलते हुए आर्य धर्म के प्रचार का और वेद-विद्या के पुनः प्रसार का।

उन्हीं महात्माओं ने सन् १९०३ में वेदों का कोष बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया और, अब वे मुख्यतः इसी कार्य में अग्रसर होते गए। वेदों का शब्दार्थ कोष बनाने से पूर्व वेदों में आए सब पदों का अकारादि क्रम से संग्रह कर लेना अत्यन्त आवश्यक था। अतः, वे इसी कार्य में प्रथम जुटे। सन् १९१० तक उन्होंने चारों प्रधान वेद-संहिताओं की पदानुक्रमणिआँ प्रकाशित कर दीं। अब वे इस शब्दार्थ-कोष की रूपरेखाओं को बनाने और आवश्यक सामग्री के जुटाने में लग गए। परन्तु १९१३ के अन्त में स्वामी नित्यानन्द जी व्याधि-ग्रस्त होकर अपने ५४ वर्ष में ही, ८ जनवरी १९१४ को चल बसे। वे ही विशेष रूप से इस महान् कार्यक्रम के कर्णधार थे। उनके अभाव में, स्वभावतः, यह सारा कार्य-भार स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी को सँभालना पड़ा। उस समय उनकी अवस्था ६४ बरस की हो चुकी थी। उन्होंने १९२३ के मध्य तक इस गाड़ी को जैसे तैसे खींचा, पर विशेष प्रगति न हो पाई। अतः, उस बरस के अन्त में उन्होंने यह सब कार्य इन पंक्तियों के लेखक को सौंप दिया। उसके फलस्वरूप लाहौर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की व्यवस्था होकर १ जनवरी १९२४ से यह कार्य नियम-पूर्वक होने और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा।

तब से अब तक संस्थान की अपनी एक अच्छी लम्बी राम-कहानी है। परन्तु आज भी इसके विकसित हो चुके कई एक विभागों के मध्य में वही एक वैदिक कोष विभाग देह में हृदय के समान जीवन-केन्द्र बन रहा है, जिसके लिए स्वामी नित्यानन्द जी ने अपने जीवन के अन्तिम दस बरसों का एक-एक क्षण लगाया था। इस कारण, संस्थान की ओर से उनके प्रति अपनी परम श्रद्धा प्रकट करने तथा उनकी पुण्य स्मृति को स्थिर बनाए रखने के उद्देश्य से "नित्यानन्द विश्वग्रन्थमाला" नाम से एक नई सांस्कृतिक ग्रन्थमाला सन् १९६० में उनकी जन्म-शताब्दी के अवसर पर आरम्भ की गई।

इस माला में इससे पूर्व चार ग्रन्थ निकल चुके हैं और यह पांचवाँ ग्रन्थ अब प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी अनुवादसहित संग्रह के रूप में प्रस्तुत किए जा रहे सदाचार-शास्त्र नामक इस ग्रन्थ की रचना दो भागों में की गई है। प्रस्तुत प्रथम भाग में प्राचीन भारत के सुप्रसिद्ध चार मनीषिओं की नीति-विषयक अमर वाणिओं का सार संगृहीत किया गया है। वे चार प्रातः-स्मरणीय महात्मा थे सर्वश्री विदुर जी, शुक्र जी, चाणक्य जी और भर्तृहरि जी, जिनके अनुभव-पूर्ण, सिद्धयोग-स्वरूप, गम्भीर और, साथ ही, सरल सदुपदेशों के परम पावन प्रभाव से भारतीय जनता न जाने कितनी शतिओं से बराबर कृतकृत्य होती चली आई है। इस संग्रह को संस्थान के प्रकाशन विभाग के सहाध्यक्ष, श्री देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर ने प्रस्तुत किया है, जिनकी संक्षिप्त मनुस्मृति इसी माला में पहले प्रकाशित हो चुकी है। आशा है यह ग्रन्थ सार्वजनिक हित का साधक हो सकेगा और अधिकाधिक संख्या में सब लोग इसके निरन्तर पाठ द्वारा उपकृत होते रहेंगे।

इस ग्रन्थ का संपादन, मुद्रण व प्रकाशन अपने हाँ के सम्बन्धित विभागों के सुन्दर सहयोग से ही सुनिष्पन्न हो पाया है। अतः मैं संतोषपूर्वक उन सब का आभार स्वीकार करता हूँ।

पंजाब सरकार (भाषा विभाग) ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन-व्यय का कुछ अंश अनुदान के रूप में प्रदान किया है। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी हैं।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान,
साधुआश्रम, होशिआरपुर,
वाल्मीकि-जयन्ती (३ अक्तूबर, १९६३)

विश्वबन्धु

प्राक्-कथन

महाभारत के वनपर्व, अध्याय ३१३, श्लोक ११७ में लिखा है—

"धर्म के बारे में परम्परा से प्राप्त श्रुतिआँ परस्पर भिन्न हैं, स्मृतिओं में भी विचारों की भिन्नता दिखाई देती है। जितने भी मननशील, विचारक हैं, उन सब के मन्तव्य भी एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः यदि विचार की दृष्टि से देखा जाए, तो धर्म क्या है, यह वह रहस्य है, जो अत्यन्त गूढ है। फिर भी क्रियात्मक रूप से जो भी अनुकरणीय बातें हैं, जिनका पालन महानुभाव विद्वज्जन करते चले आए हैं, उन्हें ही धर्म कहा जाएगा।"

महाभारत में एक और स्थान पर आया है—

यश्च धर्मः स सत्पथः। (शां. प. १२१,५७)

अर्थात्, सज्जनता और धर्म दोनों का एक ही भाव है।

तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली (१०,४) के अनुसार जब आचार्य स्नातक को दीक्षान्त के समय विदा करता है, तो उसे उस मार्ग का उपदेश करता है, जिस पर उसे भावी जीवन में चलना चाहिए। वहां पर सत्य, स्वाध्याय, दान आदि उत्तम कृत्यों के उपदेश के साथ अन्त में यह कहा है—

"यदि कभी तुम्हें नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों के अथवा आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हो जाए. तो वहां विचारशील. लोभ-रहित, सदाचारी, धर्मात्मा जन जैसा व्यवहार करते हों, तुम्हें भी उसी प्रकार से करना चाहिए।"

अतः, सज्जनों द्वारा जीवन में क्रियात्मक रूप से धारण किया हुआ आचार ही सदाचार कहलाता है। सदाचार का महत्त्व वर्णन करते हुए व्यास महाराज लिखते हैं—

आचारो भूतिजननः, आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुर्, आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(अनु. प. १६१,१७०)

सदाचार ऐश्वर्य पैदा करने वाला, कीर्ति बढ़ाने वाला और दीर्घायु प्रदान करने वाला होता है। सदाचार से सभी कुलच्छन नष्ट हो जाते हैं।

कुलानि समुपेतानि, गोभिः पुरुषतोऽश्वतः ।
कुल-संख्यां न गच्छन्ति, यानि हीनानि वृत्ततः ॥
(उद्योग पर्व ३६,२८)

भले ही घरानों में ऐश्वर्य के सभी साधन—गौएँ, घोड़े तथा पुरुष पाए जाते हों, परन्तु यदि वे आचरण-हीन हैं तो वे घराने कहलाने के योग्य नहीं हो सकते।

वास्तव में मानव तभी मानव कहला सकता है, जब वह सद्-वृत्त का धनी हो। जब उसमें सद्-वृत्त का अभाव हो जाता है, तो उससे लोगों को भय लगने लगता है। वह उस दुष्ट पशु के समान हो जाता है, जो उच्छृङ्खल होकर शृङ्खला में बंधे हुए अन्य पशुओं को न खाने देता है, न बैठने देता है, प्रत्युत मारता फिरता है। सदाचार का अर्थ है, समाज अर्थात् सत्पुरुषों की बनाई हुई मर्यादा में स्वयं अपनी इच्छा से बंधे रहना। धर्म इसका ही दूसरा नाम है। इससे समन्वित पुरुष की अपनी भी प्रगति होती है और वह दूसरों की प्रगति में भी बाधक न होकर सहायक बन जाता है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर सदाचार-सम्बन्धी अनेक शास्त्र बनाए हैं, जिन्हें 'नीतिशास्त्र' कहते हैं। उनका ऐसा विचार है कि लोक-व्यवहार की स्थिति नीति, अर्थात् सदाचार के बिना रह नहीं सकती, जैसे भोजन के विना देह की स्थिति असम्भव हो जाती है। (शु. नी. १,११) इसलिए संसार में सुचारु रूप से चलने का मार्ग बताने वाला शास्त्र 'नीति-शास्त्र' कहलाता है। यही जीवन का साधक, लोक-मर्यादा का स्थापक, एवं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदायक होता है। (शु. नी. १,५)

प्रस्तुत 'सदाचारशास्त्र' नामक ग्रन्थ में 'विदुरनीति', 'शुक्रनीति', 'चाणक्यनीति' और भर्तृहरि के 'नीतिशतक' में से उन श्लोकों का चयन किया गया है, जो कि वर्तमान युग में मानव के लिए भी पूरे पथ-प्रदर्शक हो सकने चाहिएँ।

विदुरनीति—बारह वर्ष के वनवास के अनन्तर एक वर्ष के अज्ञात वास को बिता कर जब पाण्डव प्रकट हुए, तो उन्होंने अपने पहले अधिकृत राज्य की मांग करते हुए इन स्पष्ट शब्दों में संदेश भेजा—"यदि हमारा अधिकार हमें शान्ति से मिल जाता है, तो हम अपने ताया धृतराष्ट्र की आजीवन सेवा करने के लिए तेयार हैं। परन्तु यदि हमें अपना अधिकार युद्ध से लेना पड़ता है, तो हम इसके लिए भी तैयार हैं।"

उपर्युक्त संदेश से चिन्तित होकर धृतराष्ट्र रात-भर नहीं सो सके। उन्होंने रात्रि को ही अपने छोटे भाई व मन्त्री विदुर को बुला लिया और कुछ मार्ग सुझाने का आदेश किया। विदुर ने उस समय जो उपदेश दिया, वह महाभारत के उद्योग पर्व के अन्तर्गत 'प्रजागर पर्व' के रूप में पाया जाता है। वही विदुरनीति के नाम से प्रसिद्ध है।

शुक्रनीति—देवताओं के पथ-प्रदर्शक आचार्य बृहस्पति थे, तो असुरों के पथ-प्रदर्शक शुक्राचार्य थे। कहा जाता है कि शुक्राचार्य बड़े नीतिज्ञ थे और उन्होंने जिस नीति का उपदेश किया था, वही शुक्रनीति के नाम से प्रसिद्ध है।

चाणक्यनीति—आचार्य चाणक्य के आचार-विषयक सदुपदेशों के छः ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके नाम हैं—१. वृद्धचाणक्य (विशेष), २. वृद्ध-चाणक्य (साधारण), ३. चाणक्यसार-संग्रह, ४. लघुचाणक्य, ५. चाणक्य नीतिशास्त्र और ६. चाणक्य राजनीतिशास्त्र। इन ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में परस्पर अन्तर पाया जाता है। हमारे संस्थान की ओर से विशिष्ट विद्वान्, डा. लुडविक स्टर्नबाख़ ने बहु-संख्यक हस्तलेखों आदि का संमिलान करके उक्त छः ग्रन्थों के आलोचनात्मक संस्करण सम्पन्न किए हैं, जिन्हें संस्थान शीघ्र ही प्रकाशित कर रहा है। हमारे प्रस्तुत संग्रह में उक्त छः ग्रन्थों के इन संशोधित संस्करणों का ही सदुपयोग किया गया है।

भर्तृहरि नीतिशास्त्र—श्री भर्तृहरि ने 'नीतिशतक', 'वैराग्यशतक' और 'शृङ्गारशतक' नामक तीन पद्य-शतक रचे थे। उनके उक्त 'नीतिशतक' का ही इस संग्रह में उपयोग किया गया है।

सुवचन-सुधा—इस संग्रह के अन्त में अन्य अनेक ग्रन्थों से उद्धृत और दो सौ सूक्तिआँ भी अर्थसहित दी गई हैं। इनमें भी सदाचार-सम्बन्धी उत्तम उपदेश पाए जाते हैं।

आशा की जाती है कि यह 'सदाचार-शास्त्र' पाठकों के सभी वर्गों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। आज की शिक्षा-पद्धति में विज्ञान-सम्बन्धी अनेक विद्याओं का प्राबल्य पाया जाता है। इससे मानव के मस्तक का भी और उसकी उपभोग्य भौतिक साधन-सामग्री का भी विकास तो होता है, परन्तु उसका हृदय पर्याप्त पनप नहीं पाता। और, जब तक वह विश्वजनीन सदाचारात्मक उदात्त भावनाओं से प्रभावित होकर मानव कृति को तदनुसार दिशा में प्रवृत्त करने में सफल नहीं होता, तब तक मानव समाज अपने वर्तमान संकट से मुक्त नहीं हो सकेगा। हमारे इस अगण्य से प्रयत्न का भी यही वास्तविक लक्ष्य है कि यह मानव हृदय को उक्त ठीक दिशा में थोड़ा-बहुत प्रवृत्त कर सके।

—संग्रहकर्ता

विषयानुक्रमणी

विदुर-नीति

[महाभारत उद्योग पर्व (विदुरप्रजागर पर्व)

अध्याय ३३; ४०; ६३; ६४]

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

निद्राऽलाभे कारणम्

अभियुक्तं बलवता, दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चौरम्, आविशन्ति प्रजागराः ॥१॥(१३)

पण्डित-लक्षणानि

आत्मज्ञानं समारम्भस्, तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥२॥(२०)

निषेवते प्रशस्तानि, निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्दधान, एतत् पण्डितलक्षणम् ॥३॥(२१)

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च, ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥४॥(२२)

यस्य कृत्यं न जानन्ति, मन्त्रं वा मंत्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति, स वै पण्डित उच्यते ॥५॥(२३)

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति, शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा, स वै पण्डित उच्यते ॥६॥(२४)
यस्य संसारिणी प्रज्ञा, धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः, स वै पण्डित उच्यते ॥७॥(२५)

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति, यथाशक्ति च कुर्वते।
न किंचिदवमन्यन्ते, नराः पण्डितबुद्धयः ॥८॥(२६)

अध्याय ३३

नींद के न आने में कारण

जो व्यक्ति कामी है, चोर है, जिसका सर्वस्व हर लिया गया है, और जिस असहाय दुर्बल पुरुष पर बलवान् का आक्रमण होने वाला है—इन चार तरह के मनुष्यों को नींद नहीं आती है ।।१।।(१३)

पण्डित के लक्षण

आत्मज्ञान, कर्मों का प्रारम्भ, सहनशीलता तथा धार्मिकता जिसे लक्ष्य से नीचे नहीं गिराते । उसे पण्डित कहते हैं ।।२।।(२०)

जो व्यक्ति प्रशंसित कार्यों को करता है तथा निन्दित कार्यों का परित्याग कर देता है, जो नास्तिक नहीं, प्रत्युत श्रद्धावाला है, वही पण्डित कहलाता है ।।३।।(२१)

क्रोध, हर्ष, अभिमान, लज्जा, अनम्रता, अपने को सम्मानयोग्य समझना और धनलोलुपता जिसे पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ।।४।।(२२)

जिस व्यक्ति के (विचारे हुए) कार्य को उसके शत्रु कार्य से पूर्व नहीं जान पाते,* अपितु कार्य किए जाने के बाद ही जान पाते हैं, उसको पण्डित कहते हैं ।।५।।(२३)

वही पण्डित है, जिसके कार्य में सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग, संपत्ति और निर्धनता विघ्न नहीं डाल सकते ।।६।।(२४)

जिसकी लौकिकी बुद्धि धर्म और अर्थ का अनुसरण करती है, तथा जो कामना के अनुसार धन को प्राप्त करता है, वह पण्डित कहलाता है ।।७।।(२५)

जो मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने की इच्छा करते और शक्ति के अनुसार ही कार्य करते हैं, जो किसी पदार्थ का तिरस्कार नहीं करते, वे मनुष्य पण्डित बुद्धिवाले होते हैं ।।८।।(२६)

---

* निर्णीत मंत्रणा को

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥९॥(२७)

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः ॥१०॥(२८)

निश्चित्य यः प्रक्रमते, नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा, स वै पण्डित उच्यते ॥११॥(२९)

आर्यकर्मणि रज्यन्ते, भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति, पण्डिता भरतर्षभ ॥१२॥(३०)

न हृष्यत्यात्मसंमाने, नावमानेन तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो, यः स पण्डित उच्यते ॥१३॥(३१)

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां, योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां, नरः पण्डित उच्यते ॥१४॥(३२)

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ, ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च, यः स पण्डित उच्यते ॥१५॥(३३)

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य, प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः, पण्डिताख्यां लभेत सः ॥१६॥(४४)

मूर्खलक्षणानि

अश्रुतश्च समुन्नद्धो, दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुः, मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१७॥(३५)

अकामान् कामयति यः, कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि, तमाहुर्मूढचेतसम् ॥१८॥(३७)

पण्डित की यह मुख्य पहिचान है कि वह सुनता तो देर तक है, पर शीघ्र समझ लेता है, स्वार्थभाव का परित्याग करके समझे हुए को आचरण में लाता है, दूसरे के सम्बन्ध में बिना पूछे कुछ कहता नहीं ॥९॥(२७)

पण्डित बुद्धि वाले मनुष्य, न प्राप्त होने योग्य पदार्थ की अभिलाषा, और नष्ट हुए पदार्थ के लिए शोक नहीं करते, और न ही आपत्तियों में मोह को प्राप्त होते हैं ॥१०॥(२८)

जो व्यक्ति निश्चय करके कामों को आरम्भ करता है, और काम को लटकाए नहीं रखता, अर्थात् समाप्त कर देता है, समय को व्यर्थ नहीं गंवाता, जितेन्द्रिय है, वह पण्डित कहलाता है ॥११॥(२९)

हे भरतकुलश्रेष्ठ, पण्डित जन श्रेष्ठकर्म में प्रवृत्त होते हैं। वे सदा सुख देने वाले कर्मों को करते हैं। किसी की भलाई पर ईर्ष्या नहीं करते ॥१२॥(३०)

जो आत्म-संमान से प्रसन्न नहीं होता और तिरस्कार से दुःखी नहीं होता। गङ्गा के अगाध जल की भांति कभी क्षुब्ध नहीं होता, वह पण्डित कहलाता है ॥१३॥(३१)

सारे प्राणियों के तत्त्व का ज्ञाता तथा सब कार्यों की सम्पादन-विधि में कुशल और मनुष्य-सम्बन्धी उपायों को जानने वाला व्यक्ति पण्डित कहलाता है ॥१४॥(३२)

वक्ता, अपूर्व (अद्भुत) कथन करने वाला, तर्कनिपुण, अनुभूतियुक्त और तत्काल ही शास्त्र का प्रवक्ता पण्डित कहलाता है ॥१५,३३॥

जिसका पढ़ा-सुना बुद्धि के अनुसार है, और जिसकी बुद्धि शास्त्र के अनुसार है, जिसने आर्यमर्यादा का पालन किया है, वही पण्डित कहलाता है ॥१६॥(३४)

मूर्ख के लक्षण

जो पढ़ा-लिखा नहीं, पर अभिमानी है, उच्च आकांक्षाओं वाला, पर दरिद्र है तथा पुरुषार्थ के बिना ही अर्थों को प्राप्त करना चाहता है, उसे मूर्ख कहते हैं ॥१७॥(३५)

जो न चाहने वालों को चाहता है और चाहने वालों को छोड़ देता है, बलवानों से शत्रुता रखता है, वह मूढहृदय है ॥१८॥(३७)

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं, तमाहुर्मूढचेतसम् ॥१९॥(३८)

संसारयति कृत्यानि, सर्वत्र विचिकित्सते।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे, स मूढो भरतर्षभ ॥२०॥(३९)

अनाहूतः प्रविशति, ह्यपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति, मूढचेता नराधमः ॥२१॥(४१)

परं क्षिपति दोषेण, वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥२२॥(४२)

आत्मनो बलमज्ञाय, धर्मार्थपरिवर्जितम्।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्, मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥२३॥(४३)

पण्डितलक्षणम्

अर्थं महान्तमासाद्य, विद्यामैश्वर्यमेव वा।
विचरत्यसमुन्नद्धो, यः स पण्डित उच्यते ॥२४॥(४५)

निर्दयलक्षणम्

एकः सम्पन्नमश्नाति, वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः, को नृशंसतरस्ततः ॥२५॥(४६)

बुद्धिमत्-प्रशंसा

एकं हन्यान्न वा हन्याद्, इषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा, हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥२६॥(४८)

मंत्र-भेद-दोषः

एकं विषरसो हन्ति, शस्त्रेणैकेन बध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति, राजानं मंत्रविप्लवः ॥२७॥(५०)

जो प्रेम से अपात्र को मित्र बनाता, मित्र से द्वेष करता तथा उसकी हानि करता है और नीच कर्मों का आरम्भ करता है। उसे मूढबुद्धि कहते हैं ॥१९॥(३८)

जो एक काम में बहुत से कामों को घुसेड़ कर उन्हें फैला देता है और सभी जगह सन्देह करता है, तथा जल्दी के कार्य में देर लगाता है, उसे मूर्ख कहते हैं ॥२०॥(३९)

जो बिना बुलाये सब कहीं चला जाए, बिना पूछे बहुत बात करने लगे, अविश्वासी मनुष्यों पर विश्वास करे, वह नराधम मूर्ख कहलाता है ॥२१॥(४१)

जो स्वयं दोषी होता हुआ, दूसरे पर कीचड़ उछालता है और सामर्थ्यरहित हुआ क्रोध करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूढ है ॥२२॥(४२)

जो अपने बल को न समझ कर, धर्म और अर्थ से रहित होकर, न प्राप्त होने योग्य वस्तुओं की प्राप्ति को कर्म के बिना ही चाहता है, वह इस संसार में मूर्ख कहलाता है ॥२३॥(४३)

पण्डित के लक्षण

बहुत बड़े अर्थ को, विद्या को और ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी जो उद्धत (अभिमानी) नहीं होता, वह पण्डित कहलाता है ॥२४॥(४५)

निर्दय का लक्षण

जो अकेला ही सुस्वादु और उत्तम पदार्थों को खाता और सुन्दर वस्त्र पहनता है, भृत्यों को बांट कर नहीं देता, उससे ज्यादा निर्दय कौन हो सकता है ॥२५॥(४६)

बुद्धिमान् की प्रशंसा

धनुषधारी के हाथ से छुटा हुआ बाण एक को ही मार सकता है, और चूक जाने पर नहीं भी मार पाता, पर बुद्धिमान् की बुद्धि राजा सहित राष्ट्र को समाप्त कर देती है ॥२६॥(४८)

मंत्र-भेद का दोष

विष का रस एक मनुष्य को ही मारता है, और शस्त्र से भी एक ही व्यक्ति मारा जाता है, पर मंत्र-भेद राष्ट्र और प्रजा के साथ राजा को भी समाप्त कर देता है ॥२७॥(५०)

सदाचारः

एकः स्वादु न भुञ्जीत, एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं, नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥२८॥ (५१)

क्षमा

एकः क्षमावतां दोषो, द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तम्, अशक्तं मन्यते जनः ॥२९॥ (५३)

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः, क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां, शक्तानां भूषणं क्षमा ॥३०॥ (५४)

एको धर्मः परं श्रेयः, क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिर्, अहिंसैका सुखावहा ॥३१॥ (५७)

द्वौ मृत्युभाजौ

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः, सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं, ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥३२॥ (५८)

द्वे श्रेष्ठकर्मणी

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्, अस्मिल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिद्, असतोऽनर्चयंस्तथा ॥३३॥ (५९)

द्वौ कण्टकरूपिणौ

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ, शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते, यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥३४॥ (६१)

बुद्धिमान् पुरुष स्वादिष्ठ पदार्थों को कभी अकेला न खाये, अर्थात् सब को बांट कर खाए, कभी अकेला ही समस्याओं पर विचार न करे (अर्थात् सुहृज्जनों के साथ मिलकर विचार करे) तथा कभी अकेला ही यात्रा न करे, (यात्रा के समय किसी अन्य को भी साथ ले ले) और सोते हुए पुरुषों में अकेला कभी न जागे ॥२८॥(५१)*

क्षमा

क्षमावानों का यही एक बड़ा भारी दोष है, जिसके बराबर दूसरा नहीं हो सकता। (वह दोष यह है कि) क्षमा से युक्त पुरुष को दूसरे मनुष्य असमर्थ समझ लेते हैं ॥२९॥(५३)

उपर्युक्त श्लोक में वर्णित वह क्षमा मनुष्य का दोष नहीं समझना चाहिए, अपितु वह क्षमा उसका बहुत बड़ा बल है। बलहीनों के लिए क्षमा गुण है, और बलवानों के लिए वह क्षमा भूषण है ॥३०॥(५४)

परम श्रेय धर्म है; उत्तम शांति क्षमा है; परम तृप्ति विद्या है और सुख देने वाली केवल एक अहिंसा है ॥३१॥(५७)

दो व्यक्ति मृत्यु के वशवर्ती

शत्रुओं को रोकने में असमर्थ क्षत्रिय को और एक ही स्थान पर बैठने वाले (अर्थात् स्थान-स्थान पर घूमकर प्रचार न करने वाले) ब्राह्मण को भूमि ऐसे खा जाती है, जैसे साँप बिल में रहने वाले प्राणियों को खा जाता है ॥३२॥(५८)

दो श्रेष्ठ कर्म

किसी के प्रति कठोर वचन न कहना, और अपात्रों की पूजा न करना—इन दो कामों को करता हुआ पुरुष इस लोक में सुशोभित होता है ॥३३॥(५९)

दो व्यक्ति कण्टकरूप

दरिद्र हो कर बहुत-सी कामना करना, और बलहीन हो क्रोध करना——ये दोनों काँटे बड़े तीक्ष्ण और शरीर का शोषण करने वाले हैं ॥३४॥(६१)

---

* शुक्रनीति ३,५३

द्वौ भाग्यहीनौ

द्वावेव न विराजेते, विपरीतेन कर्मणा।
गृहस्थश्च निरारम्भः, कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥३५॥ (६२)

धनस्य द्वौ दुरुपयोगौ

न्यायागतस्य द्रव्यस्य, बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च, पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥३६॥ (६४)

द्वौ हन्तव्यौ

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ, गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं, दरिद्रं चातपस्विनम् ॥३७॥ (६५)

त्रयो दोषाः

हरणं च परस्वानां, परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्, त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥३८॥ (७०)

नरकस्य त्रीणि द्वाराणि

त्रिविधं नरकस्येदं, द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्, तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥३९॥ (७१)

राजवर्ज्यानि चत्वारि कर्माणि

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन, वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यात्, न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥४०॥ (७४)

चत्वारि भयंकराणि

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि, भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं, मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥४१॥ (७८)

दो अभागे

बिना उद्योग-धन्धे के निष्क्रिय (निकम्मा) गृहस्थी और सांसारिकता में फँसा हुआ संन्यासी—ये दोनों विपरीत धर्म के कारण शोभा को प्राप्त नहीं होते ॥३५॥(६२)

धन के दो बुरे उपयोग

न्याय से कमाए हुए धन के दो दुरुपयोग हैं। कुपात्र को दान देना, तथा सुपात्र को न देना ॥३६॥(६४)

दो मारने के योग्य

जो धनवान् दानी नहीं, तथा जो निर्धन (गरीब) तपस्वी नहीं—इन दोनों को, गले में एक मज़बूत पत्थर बांधकर, अगाध जल में फेंक देना चाहिए ॥३७॥(६५)

तीन दोष

दूसरे के धन का अपहरण, परस्त्री का संसर्ग तथा सच्चे मित्र का परित्याग—ये तीन दोष मनुष्य का नाश करने वाले होते हैं ॥३८॥(७०)

नरक के तीन द्वार

आत्मा का नाश करने वाले तीन नरक के द्वार हैं—काम (वासना), क्रोध और लोभ। इसलिए इन तीनों का परित्याग कर देना चाहिए ॥३९॥(७१)

राजा के लिए छोड़ने योग्य चार कर्म

बलवान् राजा के लिए भी चार बातें त्यागने योग्य कहीं हैं, बुद्धिमान् को उन्हें जानना आवश्यक है—वह कभी भी (१) मूर्खों के साथ, (२) देर में काम निपटाने वालों के साथ, (३) जल्दबाज़ों के साथ, और (४) भाटों के साथ परामर्श न करे ॥४०॥ (७४)

भय के चार कारण

चार श्रेष्ठ कर्म, जो भय को दूर करने वाले हैं, यदि ठीक-ठीक न किए जाएँ, तो बड़े भारी भय का कारण बन जाते हैं। वे कर्म हैं—अभिमानपूर्वक किया हुआ अग्निहोत्र, मानयुक्त मौन, मान से पढ़ना और मानपूर्वक किया हुआ यज्ञ ॥४१॥(७८)

पञ्च अग्नयः

पञ्चाग्नयो मनुष्येण, परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च, गुरुश्च भरतर्षभ ॥४२॥ (७९)

इन्द्रिय दोषः

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य, छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा, दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥४३॥ (८२)

षड् दोषाः

षड् दोषाः पुरुषेणेह, हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध, आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥४४॥ (८३)

षड् वर्ज्याः

षडिमान् पुरुषो जह्यात्, भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यम्, अनधीयानमृत्विजम् ॥४५॥ (८४)
अरक्षितारं राजानं, भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं, वनकामं च नापितम् ॥४६॥ (८५)

षड् गुणाः

षडेव तु गुणाः पुंसा, न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यम्, अनसूया क्षमा धृतिः ॥४७॥, (८६)

षण्णामुपेक्षणे दोषः

षडिमानि विनश्यन्ति, मुहूर्त्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या, विद्या वृषलसंगतिः ॥४८॥ (८७)

षट् सुखानि

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः, सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥४९॥ (९०)

नित्यं दुःखिनः

ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः, क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च, षडेते नित्यदुःखिताः ॥५०॥ (९१)

पांच अग्नियां

हे भरतकुलश्रेष्ठ, पिता, माता, अग्नि, अपना आत्मतत्त्व और गुरु—इन पांच अग्नियों का सेवन मनुष्य को बड़े यत्न से करना चाहिए ।।४२।। (७९)

इन्द्रिय के दोष

पांच इन्द्रियों वाले मनुष्य के यदि एक इन्द्रिय में भी छिद्र (दोष) है, तो जीर्ण चमड़े के बर्तन से जैसे पानी बह जाता है, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी उसी इन्द्रियदोष से नष्ट हो जाता है ।।४३।। (८२)

छः दोष

ऐश्वर्य के इच्छुक पुरुष को, निद्रा, प्रमाद, भय, क्रोध, आलस्य और काम लटकाना—ये छः दोष छोड़ देने चाहिएँ ।।४४।। (८३)

परित्याग के योग्य छः व्यक्ति

अध्यापन के अयोग्य आचार्य, अनपढ़ पुरोहित, रक्षा न करने वाला राजा, कड़ुवे बोल बोलने वाली स्त्री, गांव में रहने की इच्छा वाला ग्वाला और वन जाने की इच्छा वाला नाई—इन छः व्यक्तियों को उसी प्रकार छोड़ दे, जैसे समुद्र में जाने के लिए टूटी नाव को छोड़ दिया जाता है ।।४५,४६।। (८४;८५)

छः गुण

सत्य, दान, अनालस्य, अनसूया, (ईर्ष्या न करना) क्षमा और धैर्य—इन छः गुणों का त्याग मनुष्य को कभी नहीं करना चाहिए ।।४७।। (८६)

छः पदार्थों की उपेक्षा में दोष

गाय, सेवा, खेती, भार्या, विद्या और नीच के साथ संगति—ये पदार्थ क्षण भर भी ध्यान न देने से नष्ट हो जाते हैं ।।४८।। (८७)

छः सुख

हे राजन् ! आरोग्य, ऋणी, परदेश में न रहना, पण्डितों का सङ्ग, अपने पुरुषार्थ से जीविका कमाना, निर्भय रहना—ये इस संसार के छः सुख हैं ।।४९।। (९०)

सदा दुःखी

ईर्ष्यालु, घृणा करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा शंकित रहने वाला और दूसरे के भरोसे जीने वाला—ये छः नित्य ही दुःखी रहते हैं ।।५०।। (९१)

जीवलोकस्य षड् सुखानि

अर्थागमो नित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ।।
५१।।(९२)

षण्णां षड् जीविकासाधनानि

षडिमे षट्सु जीवन्ति, सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति, व्याधितेषु चिकित्सकाः ।।५२।।(९४)
प्रमदाः कामयानेषु, यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु, नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ।।५३।।(९५)

सप्त राजदोषाः

सप्त दोषाः सदा राज्ञा, हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति, कृतमूला अपीश्वराः ।।५४।।(९५)
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं, वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यम्, अर्थदूषणमेव च ।।५५।।(९६)

अष्टौ गुणाः

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति, प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाऽबहुभाषिता च, दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।।५६।।(१०४)

दश धर्मविमुखाः

दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।।५७।।(१०६)
त्वरमाणश्च लुब्धश्च, भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ।।५८।।(१०७)

धीरलक्षणम्

सुदुर्बलो नावजानाति कंचिद्, युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः, काले च यो विक्रमते स धीरः ।।५८।।(१११)

छः जीवलोक के सुख

धन की प्राप्ति, हमेशा स्वस्थ रहना, प्रिय बोलने वाली तथा प्यारी स्त्री, आज्ञावर्ती पुत्र, धन देने वाली विद्या—ये जीवलोक के छः सुख हैं ।।५१।।(९२)

छः व्यक्तियों के छः जीविका के साधन

असावधान पुरुषों से चोर जीते हैं, रोगियों से वैद्य, कामी पुरुषों से स्त्रियां, यजमानों से पुरोहित, झगड़ा करने वालों से राजा और मूर्खों से पण्डित—ये छः प्रकार के लोग छः प्रकार के लोगों से अपनी-अपनी जीविका चलाते हैं। इनसे भिन्न सातवां नहीं है ।।५२;५३।।(९४);(९५)

राजा के सात दोष

स्त्री, जुआ, आखेट, मद्यपान, कठोर वचन, बहुत कठोर दण्ड देना, अर्थदोष अर्थात् धन का अपव्यय—इन सात दोषों को राजा छोड़ दे। अन्यथा इन दोषों से सुस्थिर राजा का भी नाश हो जाता है ।।५४;५५।।(९५);(९६)

आठ गुण

बुद्धि, उत्तम कुल, जितेन्द्रियता, विद्या, पराक्रम, नियमित बोलना, शक्ति के अनुसार दान देना, उपकारियों का आभार मानना—ये आठ गुण पुरुष को यशस्वी बनाते हैं ।।५६।।,(१०४)

धर्मविमुख दस व्यक्ति

हे धृतराष्ट्र, नशे में मदमस्त, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, डरा हुआ, और कामी—ये दस व्यक्ति धर्म को नहीं जानते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को इनसे व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए ।।५७;५८।।(१०६);(१०७)

धीर का लक्षण

जो स्वयं निर्बल होता हुआ किसी का अपमान नहीं करता, ध्यानपूर्वक जो शत्रु से व्यवहार करता है, बलवानों से जो लड़ाई नहीं छेड़ता, समय आने पर जो विक्रम का प्रदर्शन करता है, वही (राजा) धीर है ।।५८।।(१११)

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिद्, उद्योगमन्विच्छति चाऽप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा, धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥५९॥(११२)

आर्यशील-लक्षणम्

न संरभेणारभते त्रिवर्गम्, आकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं, नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥६०॥(११४)

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं, न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोस्मीति करोत्यकार्यं, तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥६१॥(११७)

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा च पश्चात्कुरुते न तापं, स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥६२॥(११८)

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः, समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति, विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः॥६३॥(१२२)

महात्मलक्षणम्

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो, मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्, तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥६४॥(१२३)

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य, नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च, नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥६५॥(१२४)

जो धुरंधर (जीवन के रथ को ठीक तरह चलाने वाला) आपत्ति के आ पड़ने पर दुःखी नहीं होता है, सावधान होकर उद्योग करता है, तथा जो समय पर कठिनाई को भी सह लेता है, वह महात्मा शत्रुओं को जीत लेता है ॥५९॥ (११२)

आर्य के लक्षण

जो उद्वेग से धर्म-अर्थ काम सम्बन्धी कार्यों का आरम्भ नहीं करता, पूछे जाने पर जो तथ्य ही बतलाता है, मित्र के साथ विवाद नहीं करता और सम्मानित न होने पर भी क्रुद्ध नहीं होता, अर्थात् विवेक नहीं खो बैठता, वही पण्डित है ॥६०॥, (११४)

जो व्यक्ति शांत हुएं वैर को फिर नहीं जगाता, अभिमान नहीं करता, और न ही अति दीन बनता है, 'मैं तो हीन दशा में हूँ' ऐसा सोचकर भी बुरा काम नहीं करता, उस व्यक्ति को बुद्धिमान् आर्य-स्वभाव वाला कहते हैं ॥६१॥ (११७)

जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, तथा दूसरों के दुःख को देखकर हर्ष नहीं करता, दान देकर बाद में जो पश्चात्ताप नहीं करता, हे सत्पुरुष, वही आर्यस्वभाव वाला कहलाता है॥६२॥(११८)

जो अपने समान गुण वालों से विवाह करता है, अपने से नीच गुण वालों के साथ नहीं, तथा समान व्यक्तियों के साथ ही मित्रता का व्यवहार और वार्तालाप करता है, तथा प्रत्येक काम में, गुणों में बढ़े-चढ़े मनुष्यों को प्रमुखता देता है, उसकी नीति ठीक व्यवहृत होती है ॥६३॥ (१२२)

महात्माओं के लक्षण

जो पुरुष अपने आश्रित व्यक्तियों में अधिक पदार्थ बांटकर स्वयं नियमित खाता है, अधिक काम करके थोड़ा सोता है और मांगने पर शत्रुओं को भी देने योग्य वस्तु देता है, अनर्थ (बुराइयां) उस महात्मा का परित्याग कर देते हैं ॥६४॥ (१२३)

जिसके चाहे हुए और बिगड़े हुए काम को अन्य नहीं जान पाते हैं, मंत्र के गुप्त रहने से और उसके यथोचित उपयोग से उसका कोई भी काम किञ्चिन्मात्र भी विकृत नहीं होता। (वह महात्मा है) ॥६५॥ (१२४)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

अपृष्टः कुत्र ब्रूयात्

शुभं वा यदि वा पापं, द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद्, यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥६६॥(४)

परित्याज्य-कर्माणि

मिथ्योपेतानि कर्माणि, सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि, मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥६७॥(६)

कर्मासिद्धौ न ग्लायेत्

तथैव योगविहितं, यत्तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी, न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥६८॥(७)

सहसा विदधीत न क्रियाम्

अनुबन्धानपेक्षेत, सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत, न वेगेन समाचरेत् ॥६९॥(८)

अनुबन्धं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव, धीरः कुर्वीत वा न वा ॥७०॥(९)

अविनयदोषः

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति, जरा रूपमिवोत्तमम् ॥७१॥(१२)

अध्याय ३४

बिना पूछे कहां बोलना उचित है

मनुष्य को उचित है कि वह जिसका अहित नहीं चाहता, उसके शुभ-अशुभ, प्रिय और अप्रिय सब प्रकार की बातों को उसे कह दे ।।६६।।(४)

परित्याज्य कर्म

हे भारत, जिन कार्यों की मिथ्या और विपरीत उपायों से सिद्धि होती हो। उनमें [उनकी सिद्धि में] अपना मन मत लगाइए ।।६७।।(६)

कर्म-असिद्धि में ग्लानि मत करो

और इसके साथ ही अनेक सद् उपायों और ठीक विधि से किए हुए कार्य की यदि सिद्धि नहीं होती, तो बुद्धिमान् को अपना मन दुःखी नहीं करना चाहिए ।।६८।।(७)

बिना सोचे कार्य न करें

जिन कर्मों के साथ गौणरूप से और कर्म जुड़े (अनुबन्ध) हुए हैं, उन कर्मों का सदा ध्यान रखना चाहिए। कर्मों को विचार कर, धीरता से करना चाहिए, सहसा नहीं ।।६९।।(८)

कर्मों के सहयोग से होने वाले अन्य कर्मों, कर्मों के परिणामों और अपने उत्कर्ष का ध्यान करके ही धीर पुरुष को कर्म करने हिएँ अथवा उनका परित्याग करना चाहिए ।।७०।।(९)

अविनय का दोष

"राज्य तो प्राप्त हो ही गया है" इस प्रकार सोच कर कभी भी राजा को अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए। क्योंकि अविनय-शीलता लक्ष्मी को उसी प्रकार हर लेती है, जैसे बुढ़ापा सुन्दरता को ।।७१।।(१२)

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं, ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्, तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥७२॥(१४)

परिणामि फलं हितम्

वनस्पतेरपक्वानि, फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो, बीजं चास्य विनश्यति ॥७३॥(१५)

यस्तु पक्वमुपादत्ते, काले परिणतं फलम् ।
फलाद् रसं स लभते, बीजाच्चैव फलं पुनः ॥७४॥(१६)

कर-संग्रहण-रीतिः

यथा मधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्यः, आदद्यादविहिंसया ॥७५॥(१७)

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत, मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे, न यथाङ्गारकारकाः ॥७६॥(१९)

अयोग्यः स्वामी

प्रसादो निष्फलो यस्य, क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति, षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥७७॥(२१)

प्रजाप्रियो नृपः

ऋजु पश्यति यः सर्वं, चक्षुषाऽनुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकम्, अनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥७८॥(२३)

खाद्य पदार्थ

जो पदार्थ खाने के योग्य है, खाने के बाद जो आसानी से पच जाता है, और पच जाने पर परिणाम में हितकारी होता है, स्वास्थ्य चाहने वाले पुरुष को ऐसा पदार्थ ही खाना चाहिए ।।७२।।(१४)

परिणामी फल हितकारक है

जो मनुष्य वृक्ष के कच्चे फलों को तोड़ लेता है, वह उन फलों के रस को नहीं पा सकता और बीज तो उसे मिलेंगे ही नहीं ।।७३।।(१५)

परन्तु जो व्यक्ति समय पर पके हुए फल को वृक्ष से लेता है, वह उस फल से रस को प्राप्त कर लेता है, और बीज से वह पुनः फल को भी पा सकता है ।।७४।।(१६)

कर-संग्रहण का प्रकार

जैसे भौंरा फूलों की हानि न करता हुआ उन फूलों से मधु रूपी रस को ले लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् राजा को भी प्रजा जनों को कष्ट न देते हुए धन प्राप्त करना चाहिए ।।७५।।(१७)

माली फूल-फूल को चुन लेता है, परन्तु पौधों को जड़ से नहीं उखाड़ता उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से अर्थ-प्राप्ति करनी चाहिए, उन्हें पीड़ित नहीं करना चाहिए। कोयला बनाने वाले के समान उसे व्यवहार नहीं करना चाहिए, जो कि वृक्ष को मूल से ही काट लेता है ।।७६।।(१९)

अयोग्य स्वामी

जिसकी प्रसन्नता से प्रजा को कोई लाभ नहीं होता, और क्रुद्ध होने पर कोई हानि नहीं होती, ऐसे राजा को प्रजा उसी प्रकार नहीं चाहती, जैसे नपुंसक पति को स्त्रियाँ ।।७७।।(२१)

प्रजा के अनुराग का पात्र राजा

जो राजा प्रजाओं पर इस प्रकार अनुग्रह दृष्टि रखता है, मानो उन्हें स्नेह की आँखों से पीना चाहता है, कृपा के विशेष कार्य न करने पर भी प्रजाएँ उसे प्रेम करती हैं ।।७८।।(२३)

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं, तं लोकोनुऽप्रसीदति ।।७९।।(२५)

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि, मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं, लब्ध्वा स परिहीयते ।।८०।।(२६)

धर्ममाचरतो राज्ञः, सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा, वर्धते भूतिवर्धिनी ।।८१।।(२८)

अथ संत्यजतो धर्मम्, अधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिर्, अग्नौ चर्माहितं यथा ।।८२।।(२९)

य एव यत्नः क्रियते, परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः, स्वराष्ट्रपरिपालने ।।८३।।(३०)

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो, बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्याद्, अश्मभ्य इव काञ्चनम् ।।८४।।(३२)

सूक्तानि चिन्वीत

सुव्याहृतानि सूक्तानि, सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन् धीर आसीत, शिलाऽऽहारी यथा शिलम् ।।८५।।(३३)

दर्शनोपकरणानि

गन्धेन गावः पश्यन्ति, वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्, चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ।।८६।।(३४)

सद्-बान्धवाः

पर्जन्यनाथाः पशवः, राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां, ब्राह्मणाः वेदबान्धवाः ।।८७।।(३८)

जो राजा दृष्टि, मन, वाणी और कर्म इन चार प्रकारों से स्वराष्ट्र को [प्रजा को] प्रसन्न करता है, उस राजा को प्रजा भी प्रसन्न करती है ॥७९॥(२५)

जिस राजा से प्रजाएँ, शिकारी से हिरन के समान, डरती हैं, वह राजा समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर शासन करता हुआ भी राज्य से हीन हो जाता है ॥८०॥(२६)

जो राजा उस धर्म का आचरण करता है, जिसको कि सदा सज्जन पुरुष अपने आचरण में लाते रहे हैं। उस राजा का राज्य सदा सुख बढ़ाने वाला ऐश्वर्य से पूर्ण होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। ॥८१॥(२८)

(ऊपर के श्लोक से विपरीत) जो राजा धर्म का परित्याग करके अधर्म का आचरण करता है, उसका राज्य अग्नि में रखे हुए चमड़े की भांति सिकुड़ जाता है ॥८२॥(२९)

राजा जितना यत्न पर-राष्ट्र के विमर्दन में करता है, उसे उतना ही यत्न अपने राज्य के पालन में भी करना चाहिए ॥८३॥(३०)

जैसे पत्थरों में से सोना निकाला जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् राजा को असम्बद्ध बोलने वाले, पागल तथा बहुभाषी बालक से भी तत्त्व ग्रहण कर लेना चाहिए ॥८२॥(३२)

उत्तम वचनों को चुने

बुद्धिमान् को उचित है, कि जैसे कोई शिलवृत्ति* से जीने वाला मनुष्य खेत में पड़े हुए धान्य को कण कण करके चुनता है। ऐसे ही जहां कहीं से भी उत्तम वचन तथा उत्तम कर्म प्राप्त हो, ग्रहण कर लेना चाहिए ॥८५॥(३३)

देखने के साधन

पशु सूँघने से, ब्राह्मण ज्ञान से और राजा गुप्तचरों से देखते हैं। परन्तु सामान्य जन आँखों से ही देखते हैं ॥८६॥(३४)

सच्चे बन्धु

पशुओं के रक्षक (बन्धु) मेघ हैं, राजा के बन्धु मन्त्री, स्त्रियों के बन्धु (रक्षक) पति तथा ब्राह्मणों का बन्धु ज्ञान है ॥८७॥(३८)

---

*खेती के काटने के समय जो धान्य के दाने खेत में गिर जाते हैं। क्षेत्रपति उन्हें छोड़कर चला जाता है। कई विरक्त वृत्तिवाले मुनि उन दानों को चुनकर उससे निर्वाह करते हैं। उन्हें शिलाहारी कहा है। शिलाहार=धान्य के कण कण से जीविका।

रक्षा साधनानि

सत्येन रक्ष्यते धर्मो, विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं, कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥८८॥(३९)

आचार प्रशंसा

न कुलं वृत्तहीनस्य, प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्त्येष्वपि हि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यते ॥८९॥(४१)

ईर्ष्यालुः

य ईर्षुः परवित्तेषु, रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे, तस्य व्याधिरनन्तकः ॥९०॥(४२)

त्रयो मदाः

विद्यामदो धनमदस्, तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानाम्, एत एव सतां दमाः ॥९१॥(४४)

शीलमाहात्म्यम्

जिता सभा वस्त्रवता, मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता, सर्वं शीलवता जितम् ॥९२॥(४७)

शीलं प्रधानं पुरुषे, तद् यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो, न धनेन न बन्धुभिः ॥९३॥(४८)

आस्वाद जननी-क्षुधा

संपन्नतरमेवान्नं, दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत् स्वादुतां जनयति, सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥९४॥(५०)

दुःखकारणम्

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु, वर्त्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको, नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥९५॥(५४)

रक्षा के साधन

धर्म की रक्षा सत्य से होती है, अभ्यास से विद्या की, शुद्धि से रूप की और सदाचार से कुल की रक्षा होती है ॥८८॥(३९)

आचार की प्रशंसा

आचरण-हीन का कुल प्रमाण के योग्य नहीं होता। छोटे कुल में भी उत्पन्न मनुष्यों की सच्चरित्रता ही उनको विशिष्ट बना देती है ॥८९॥(४१)

ईर्ष्यालु

जो दूसरों के धन, रूप, शक्ति, सद्वंश, सुख, सौभाग्य और आदर को देखकर जलता है, उसका यह रोग असाध्य है, अर्थात् इस रोग की कोई औषध नहीं है ॥९०॥(४२)

तीन मद

विद्या-मद, धन-मद और बान्धवों का मद—ये तीनों मूर्खों के लिए बहुत बड़े अभिमान [मद] के कारण हैं, पर सज्जनों के लिए ये तीनों ही वश करने के योग्य हैं ॥९१॥(४४)

शील का महत्त्व

सुन्दर वस्त्रधारी केवल सभा को जीतता है, मीठे पदार्थ के खाने की आशा को केवल गाय रखने वाला जीतता है, सवारी वाला केवल मार्ग को जीतता है, पर शीलवान् पुरुष सभी को जीत लेता है ॥९२॥(४७)

पुरुष में शील (सत्स्वभाव) की ही प्रधानता है। जिसका शील नष्ट हो जाता है, उसके धन, बन्धु और जीवन का भी कोई प्रयोजन नहीं ॥९३॥(४८)

भूख स्वाद को पैदा करती है

दरिद्र सदा स्वादु अन्न खाते हैं, क्योंकि भूख उनके अन्न को स्वादु बना देती है। परन्तु वह भूख धनिकों के लिए दुर्लभ होती है ॥९५॥(५०)

दुःख का कारण

विषयों में रमण करने वाली अविजित इन्द्रियाँ मनुष्यों को उसी प्रकार तपाती [दुःख देती] हैं, जैसे नक्षत्रों को ग्रह* ॥९५॥(५४)

*ग्रह, वे नक्षत्र, जो कि टूटकर अपने अस्तित्व को तो मिटा देते हैं, पर गिरते हुए दूसरे नक्षत्रों के लिए भी मुसीबत का कारण बन जाते हैं।

यो जितः पंचवर्गेण, सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते, शुक्लपक्षा इवोडुराट् ॥९६॥(५५)

स्व-विजयः

अविजित्य यथाऽऽत्मानम्, अमात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान्वाऽजितामात्यः, सोऽवशः परिहीयते ॥९७॥(५६)

इन्द्रिय-संयमी

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्, आत्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्, दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥९८॥(५९)

अनर्थमर्थतः पश्यन्, अर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैः बालः, सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥९९॥(६१)

धर्मार्थौ यः परित्यज्य, स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः, क्षिप्रं स परिहीयते ॥१००॥(६२)

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥१०१॥(६५)

आत्म-पतन करने वाले* स्वाभाविक काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से पराभूत पुरुष की विपत्तियाँ उसी प्रकार बढ़ती हैं, जैसे शुक्लपक्ष (पूर्णमासी) में चन्द्र† ।।९६।।(५५)

अपनी विजय

जो राजा अपने मन को वश में किए बिना ही अमात्य वर्ग को जीतना चाहता है, तथा अमात्यवर्ग को जीते बिना शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह विवश हुआ सिद्धि से च्युत हो जाता है ।।९७।।(५६)

इन्द्रियों का संयमी

पुरुष का शरीर एक रथ के समान है, इसमें आत्मा रथ को चलाने वाला और इन्द्रियां उस रथ के घोड़े हैं। जागरूक हुआ धीर पुरुष सुखपूर्वक संसार-यात्रा कर लेता है, जैसे कुशल रथी वश में किए हुए सधे घोड़ों वाले रथ से अपनी यात्रा पूरी कर लेता है ।।९८।।(५९)

इन्द्रियों को न जीतने वाला मूर्ख, अनर्थ में अर्थ को, और अर्थ में अनर्थ को तथा दुःख में सुख को और सुख में दुःख को देखता है ।।९९।।(६१)

जो मनुष्य धर्म तथा अर्थ का परित्याग करके इन्द्रियों के वश में हो जाता है, उसके लक्ष्मी, प्राण और स्त्री सभी नष्ट हो जाते हैं ।।१००।।(६२)

जिसने स्वयं ही अपने-आप को जीत लिया, वह अपना बन्धु स्वयं है। आत्मा ही गाढ बन्धु है और आत्मा ही सुदृढ शत्रु है ।।१०१।।(६५)

---

*काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार—ये पांचों स्वाभाविक हैं। अर्थात् ये पांचों सदा चेतन शरीर में रहते हैं। जब ये अपनी सीमा में होते हैं, तो आत्म-कल्याण करते हैं, परन्तु सीमा से बाहिर आत्म-पतन का कारण बनते हैं।

† (१) पूर्ण चन्द्र ही ग्रसा जाता है। उसका ग्रसा जाना उसकी विपदा है।
(२) पूर्ण चन्द्र के पश्चात् अन्धेरा पक्ष शुरु हो जाता है और चन्द्र की एक-एक कला क्षीण होने लगती है। इस प्रकार उस पर विपत्तियां आने लग जाती हैं।

यः पंचाभ्यन्तरान् शत्रून्, अविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान्, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ।।१०२।।(६८)

कुसङ्ग-फल-वर्णनम्

असंत्यागात् पापकृतामपापांस्, तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्, तस्मात्पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ।।१०३।।
(७०)

दुष्टलक्षणम्

आत्मज्ञानमनायासस्, तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च, नैतान्यन्त्येषु भारत ।।१०४।।(७३)

क्षमामाहात्म्यम्

आक्रोशपरिवादाभ्यां, विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते, क्षममाणो विमुच्यते ।।१०५।।(७४)

हिंसाबलमसाधूनां, राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां, क्षमा गुणवतां बलम् ।।१०६।।(७५)

सुवाग्महत्त्वम्

अभ्यावहति कल्याणं, विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्, अनर्थायोपपद्यते ।।१०७।।(७७)

दुष्टवाचः फलम्

रोहते सायकैर्विद्धं, वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं, न संरोहति वाक्क्षतम् ।।१०८।।(७८)

जो अन्तःकरण में उद्भूत पांच आन्तरिक शत्रुओं* को जीते विना ही शत्रुओं को जीतना चाहता है, वह शत्रुओं को नहीं जीत पाता, परन्तु उसे शत्रु ही जीत लेते हैं ।।१०२।।(६८)

कुसङ्गति का फल

पापियों का सङ्ग न छोड़ने से अपापियों [महात्माओं] को भी दण्ड का भागी बनना पड़ता है। जैसे सूखे ईन्धन के साथ गीला ईन्धन भी जल जाता है, अतः, पापियों के साथ मेल नहीं करना चाहिए ।।१०३।।(७०)

दुष्ट का लक्षण

दुष्ट पुरुषों में, आत्मज्ञान, सुख, सुख-दुःख के सहन करने की शक्ति, धर्मपरता, सुरक्षित वाणी और दान कभी नहीं होते ।।१०४।।(७३)

क्षमा की महिमा

मूर्ख पुरुष कठोर और निन्दायुक्त वचनों से महात्माओं को दुःख देते हैं। कठोर कहने वाला ही पाप का भागी होता है, परन्तु क्षमा करने वाले को कोई पाप नहीं लगता ।।१०५।।(७४)

दुष्टों की शक्ति हिंसा है, राजाओं का बल उनके दण्ड-विधान में है, स्त्रियों का बल सेवा है और गुणवानों का बल क्षमा है ।।१०६।।(७५)

सुवाणी की महिमा

मीठी वाणी का मीठा प्रयोग अनेक प्रकार के कल्याणों को देने वाला होता है, और उसी वाणी का बुरा प्रयोग अनर्थ पैदा करता है ।।१०७।।(७७)

दुष्ट-वाणी का फल

तीरों का घाव, और कुल्हाड़ी से काटा हुआ वृक्ष फिर भर जाता है, पर वाणी द्वारा किया हुआ भयंकर घाव नहीं भरता ।।१०८।।(७८)

---

*(काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार अथवा पांच ज्ञानेन्द्रियों को)

कर्णिनालीकनाराचान्, निर्हरन्ति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्त्तुं, शक्यो हृदिशयो हि सः ॥१०९॥(७९)

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति, यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति, तान् पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः॥११०॥(८०)

बुद्धिमहत्त्वम्

यस्मै देवा पुरुषाय प्रयच्छन्ति पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति, योऽवाचीनानि पश्यति ॥१११॥(८१)

बुद्धौ कलुषभूतायां, विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो, हृदयान्नापसर्पति ॥११२॥(८२)

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

बुद्धिमहत्त्वम्

न देवा दण्डमादाय, रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति, बुद्धया संविभजन्ति तम् ॥११३॥(४०)

कल्याणभावनायां सर्वार्थसिद्धिः

यथा यथा हि पुरुषः, कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथाऽस्य सर्वार्थाः, सिद्धयन्ते नाऽत्र संशयः ॥११४॥(४१)

वर्ज्यानि कर्माणि

मद्यपानं कलहं पूगवैरं, भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं, वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्था: प्रदुष्टः ॥११५॥
(४३)

शरीर में घुसे हुए कर्णि आदि विविध प्रकार के वाणों को निकाला जा सकता है, पर हृदय में घुसे होने के कारण वाणी रूपी वाण को नहीं निकाला जा सकता ॥१०९॥(७९)

वाग्वाण मुख से निकलते हैं, वे दूसरों के मर्मस्थलों पर जा लगते हैं, जिनसे घायल हुआ वह दिन-रात चिन्तित रहता है, अतः पण्डितों को दूसरों के लिए वाग्वाण का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥११०॥(८०)

बुद्धि का महत्त्व

देव जिस पुरुष का पराभव चाहते हैं, उसकी बुद्धि को नष्ट कर देते हैं, फिर बुद्धिरहित वह मनुष्य नीच कर्म करने लगता है ॥१११॥(८१)

बुद्धि के कलुषित होने तथा विनाश के उपस्थित होने पर सुनीति के समान प्रतीत होने वाली कुनीति (दुर्नीति) मानव के हृदय में बनी रहती है। वह उसके हृदय से दूर नहीं होती ॥११२॥(८२)

अध्याय ३५

बुद्धि का महत्त्व

देवता लाठी लेकर, पशुओं की रक्षा करने वाले ग्वाले के समान, किसी की रक्षा नहीं करते, प्रत्युत जिस पुरुष की रक्षा करना चाहते हैं। उसे बुद्धि प्रदान कर देते हैं ॥११३॥(४०)

शुभभावना से सर्वार्थसिद्धि

जैसे-जैसे पुरुष कल्याण के कार्यों में मन लगाता है, वैसे-वैसे ही उसके सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध होते हैं—इसमें संशय नहीं ॥११४॥(४१)

वर्जनीय कर्म

शराब पीना, लड़ाई, समुदाय से विरोध, पति-पत्नी का अलगाव, सम्बन्धियों में फूट डालना, राजा से द्वेष, स्त्री-पुरुष में विवाद और कुमार्गसेवन—इन कर्मों को वर्जनीय (छोड़ने योग्य) कहा है ॥११५॥(४३)

चरित्र-परीक्षा

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं, वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः, कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ।।११६।।
(४९)

सर्वहराः

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा, मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा, ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ।।११७।।
(५०)

लक्ष्मीवर्धनम्

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति, प्रागल्भ्यात् संप्रवर्धते ।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलम्, संयमात् प्रतितिष्ठति ।।११८।।(५१)

अष्टौ धर्माः

इज्याध्ययनदानानि, तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं, धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।।११९।।(५६)

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो, दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो, नामहात्मसु तिष्ठति ।।१२०।।(५७)

सत्यम्

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा, न ते वृद्धाः ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मः यत्र न सत्यमस्ति, न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ।।१२१।।
(५८)

पुण्य-पापयोः फलम्

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः, पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः, पुण्यमत्यन्तमश्नुते ।।१२२।।(६०)

आचरण की कसौटी

जलते तृणों की मशाल से सुवर्ण, आचरण से भद्रता, व्यवहार से सज्जनता, भय में शूरता, आर्थिक कठिनाइयों में धीरता तथा दुःख और आपत्तियों में शत्रु और मित्र पहिचाने जाते हैं ॥११६॥(४९)

सब-कुछ नाश करने वाले

बुढ़ापा रूप को, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, निन्दा धर्म को, क्रोध लक्ष्मी को, दुर्जनों की सेवा शील को, काम लज्जा को और अभिमान सर्वस्व को नष्ट कर देता है ॥११७॥(५०)

लक्ष्मी का बढ़ना

अच्छे कामों से लक्ष्मी पैदा होती है, यथायोग्य विनियोग से वह बढ़ती है, कर्मकुशलता से उसकी जड़ जमती है और मितव्यय के कारण वह स्थिर रहती है ॥११८॥(५१)

आठ धर्म

यज्ञ[१], स्वाध्याय[२], दान[३], तप[४], सत्य[१], क्षमा[२], दया[३] और लोभ[४] का अभाव—ये आठ धर्म के मार्ग कहे हैं।

इनमें से पहला चार का वर्ग (यज्ञ, स्वाध्याय, दान और तप) कपट के लिए भी किया जा सकता है, परन्तु दूसरा चार का वर्ग (सत्य, क्षमा, दया और लोभ) दम्भियों में नहीं होता, महात्माओं में ही होता है ॥११९-१२०॥(५६-५७)

सत्य

वह सभा, सभा नहीं जिसमें वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म का बखान नहीं करते। वह धर्म नहीं जिसमें सत्य नहीं तथा वह सत्य नहीं जो छल से युक्त है ॥१२१॥(५८)

पुण्य तथा पाप का फल

मनुष्य पाप करता हुआ, कुख्याति वाला होकर पाप के बुरे फल को भोगता है। दूसरी ओर पुण्य करता हुआ सुख्याति वाला होकर शुभ फल को भोगता है ॥१२२॥(६०)

दुःखभाजनम्

असूयको दंदशूको, निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति, न चिरात् पापमाचरन् ॥१२३॥ (६४)

कर्त्तव्यम्

दिवसेनैव तत् कुर्याद्, येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत् कुर्याद्, येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥१२४॥ (६७)

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद्, येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद्, येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥१२५॥ (६८)

प्रशंसनीयाः

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति, भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं, गतपारं तपस्विनम् ॥१२६॥ (६९)

अधर्मार्जितं धनम्

धनेनाधर्मलब्धेन, यच्छिद्रमपि धीयते ।
असंवृतं तद् भवति, ततोऽन्यदवदीर्यते ॥१२७॥ (७०)

अथ उत्तम-पुरुषाः

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं, चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च, यश्च जानाति सेवितुम् ॥१२८॥ (७४)

दुःख का पात्र

निन्दक, अपशब्द से दूसरे के मर्म को भेदने वाला, निर्दय, सब से वैर करने वाला और धूर्त ये सब पाप का आचरण करते हुए बहुत शीघ्र ही महान् संकट में फंस जाते हैं ।।१२३।।(६४)

कर्त्तव्य

दिन में ही इतना काम कर ले, जिससे रात को सुखपूर्वक सो सके। आठ मास में ही उन कामों को कर ले, जिनसे वर्षा ऋतु के चार मास सुख से रह सके ।।१२४।।(६७)

पहली आयु में ही ऐसे काम कर लेने चाहिएँ जिनसे बुढ़ापे में सुख से रहा जा सके, तथा जीवन-काल में ही ऐसे काम कर लेने चाहिएँ, जिससे अगला जन्म सुखी हो ।।१२५।।(६८)

प्रशंसा के योग्य

पचा हुआ अन्न ही प्रशंसनीय है, शील से जिसने अपनी यौवनावस्था काट ली है ऐसी स्त्री की ही प्रशंसा होती है, संग्राम को जीतने वाला वीर प्रशंसा का भाजन होता है, और तपस्या पूर्ण होने पर ही तपस्वी की प्रशंसा होती है ।।१२७।।(६९)

अधर्म का धन

अधर्म से कमाए हुए धन से जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं, प्रत्युत दूसरा दोष उघड़ आता है ।।१२७।।(७०)

तीन उत्तम पुरुष

शूरवीर, आचरणशील विद्वान् तथा सेवा-धर्म को जानने वाले—ये तीन प्रकार के पुरुष पृथिवी-रूपी लता से सुवर्ण-रूपी पुरुष का चयन करते हैं। अर्थात् उनके लिए पृथिवी स्वर्णमयी हो जाती है ।।१२८।।(७४)

षड्त्रिंशोऽध्यायः

कटुवचन-निन्दा

आक्रोश्यमानो नाक्रोशेत्, मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति, सुकृतं चास्य विन्दति ॥१२९॥(५)

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य, मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो, रूक्षां वाचं रुशतीं वर्जयीत ॥१३०॥
(६)

अरुंतुदं परुषं रूक्षवाचं, वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां, मुखे निबद्धां निर्ऋतिर्वै वहन्तम् ॥१३१॥
(८)

सङ्गतिपरिणामः

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं, तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति, तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥१३२॥
(१०)

धर्म्यं वचः

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः, सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत्तृतीयं, धर्म्यं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥१३३॥
(१२)

संगतिः

यादृशैः सन्निविशते, यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं, तादृग् भवति पूरुषः ॥१३४॥(१३)

अध्याय ३६

कटुवचन की निन्दा

कठोर कहने वाले के प्रति कठोर वचन नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार सहन करने वाले का मन्यु (क्रोध) कटुभाषी को जला देता है, और वह सहनकर्ता उसके पुण्य को भी ले लेता है ॥१२९॥(५)

किसी को बुरा-भला न कहे, न ही दूसरे का अपमान करे। मित्र-द्रोह तथा दुष्ट संग भी न करे। अभिमानी तथा कदाचारी न हो। रूखी और चुभती हुई बात किसी को न कहे ॥१३०॥(६)

मर्मस्थल को उत्पीडन करने वाले, कठोरभाषी रूखे वचनों को कहने वाले और वाणी के काँटों से मनुष्यों को पीडा देने वाले व्यक्ति को मानवों में सबसे बढ़कर भाग्यहीन समझना चाहिए। उस मनुष्य ने, मानो, अपने मुख पर कलहवृत्ति को बांध रखा है ॥१३१॥(८)

संगति का फल

यदि मनुष्य सन्तों के संग रहता है या असन्तों के, तपस्वियों की संगति करता है या चोरों की, वह उनके वश में ऐसे ही हो जाता है जैसे रंग में रंगा हुआ कपड़ा ॥१३२॥(१०).

धार्मिक वचन की श्रेष्ठता

अधिक बोलने से न बोलना अच्छा है, यदि बोलना ही पड़े तो सत्य ही बोले, यदि सत्य बोले तो प्रिय सत्य ही बोले, तथा प्रिय सत्य बोले तो धर्म के अनुसार बोले। ये चार वचन के भेद हैं ॥१३३॥(१२)

संगति

जैसे के साथ बैठता है, जैसे मनुष्यों की संगति करता है, तथा जैसे होने की स्वयं इच्छा करता है, पुरुष वैसा ही बन जाता है ॥१३४॥(१३)

विरक्तिः

यतो यतो निवर्तते, ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्त्तनाद्धि सर्वतो, न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥१३५॥(१४)

समदर्शिता

न जीयते नानुजिगीषतेऽन्यान्, न वैरकृच्चाऽप्रतिघातकश्च।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो, न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥१३६॥
(१५)

उत्तमः पुरुषः

भावमिच्छति सर्वस्य, नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो, यः स उत्तमपूरुषः ॥१३७॥(१६)

मध्यमः पुरुषः

नानर्थकं सान्त्वयति, प्रतिज्ञाय ददाति च।
रन्ध्रं परस्य जानाति, यः स मध्यमपूरुषः ॥१३८॥(१७)

अधमः पुरुषः

न श्रद्दधाति कल्याणं, परेभ्योऽप्यात्मशंकितः।
निराकरोति मित्राणि, यो वै सोऽधमपूरुषः ॥१३९॥(१९)

वित्तेऽपि कुलीनताऽलाभः

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन, नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां, न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥१४०॥
(२१)

कुलवर्णनम्

येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्, चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां, त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि॥१४१॥
(२४)

वैराग्य

जहां-जहां से मनुष्य का मन निवृत्त हो जाता है, वहां-वहां के दुःख से वह छूट जाता है, अतः सब स्थान से मन के निवृत्त हो जाने पर उसे लेशमात्र भी दुःख का अनुभव नहीं होता ॥१३५॥(१४)

समदर्शी होना

(पूर्व श्लोकोक्त) विरक्त मनुष्य, न किसी से पराजित होता है, और न किसी को जीतने की इच्छा करता है। वह न किसी से वैर करता है, न किसी को मारने की इच्छा रखता है। निन्दा और प्रशंसा में समस्वभाव वाला, वह न शोक करता है और न हर्ष ॥१३६॥(१५)

उत्तम पुरुष

वह उत्तम पुरुष है, जो सब का अस्तित्व चाहता है, किसी के भी विनाश का उसके मन में संकल्प नहीं उठता। वह सत्यवादी, कोमल, इन्द्रियजयी होता है ॥१३७॥(१६)

मध्यम पुरुष

जो किसी को झूठा आश्वासन नहीं देता, कहकर दे देता है और दूसरे के दोष को जानता है, वह मध्यम पुरुष है ॥१३८॥(१७)

अधम पुरुष

जो अच्छी बात पर विश्वास नहीं करता, सदा दूसरों की तरफ से शंकित रहता है और मित्रों का तिरस्कार कर देता है, वह नीच पुरुष है ॥१३९॥(१९)

धन से कुलीनता नहीं मिलती

मनुष्य दुष्टता के बल से, निरन्तर उद्योग से, बुद्धि तथा पुरुषार्थ से धन तो प्राप्त कर सकता है, पर न तो वह भली प्रकार प्रशंसा को और न ही कुलीनों के चरित्र को प्राप्त कर सकता है ॥१४०॥(२१)

उत्तम कुल

जिनका चरित्र और जन्म दूषित नहीं होता, जो चित्त की निर्मलता से धर्म का आचरण करते हैं, जो कुल में विशिष्ट यश की इच्छा करते हैं, जिन्होंने असद् व्यवहार का परित्याग कर दिया है, वे कुल महान् कुल कहाते हैं ॥१४१॥(२४)

कुलानि समुपेतानि, गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति, यानि हीनानि वृत्ततः ।।१४२।।(२८)

वृत्ततस्त्वविहीनानि, कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति, कर्षन्ति च महद् यशः ।।१४३।।(२९)

चरित्रमाहात्म्यम्

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतो हतः ।।१४४।।(३०)

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु, राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा, पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ।।१४५।।
(३२)

अतिथिसत्कार

तृणानि भूमिरुदकं, वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु, नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।१४६।।(३४)

मित्रलक्षणम्

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति, यद्वा मित्रं शंकितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत, तद्वै मित्रं संगतानीतराणि ।।१४७।।
(३७)

चलचित्तस्य वै पुंसो, वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यम्, अध्रुवो मित्रसंग्रहः ।।१४८।।(३९)

संदाचार की प्रशंसा

कुल चाहे पशु, पुरुष और धन की बहुलता से भी युक्त हों, यदि वे सदाचरण से हीन हैं, तो उनकी गिनती कुलों में नहीं होती ॥१४२॥(२८)

जिन कुलों में धन तो थोड़ा है, पर वे कुल चरित्र से सम्पन्न हैं, वे कुल कहलाते हैं, और बहुत यश को प्राप्त करते हैं॥१४३॥(२९)

चरित्र-महिमा

धन तो आता है और चला जाता है, इसलिए यत्नपूर्वक चरित्र की रक्षा करनी चाहिए। धन से नष्ट हुआ मनुष्य नष्ट नहीं होता, पर चरित्र से गिरा हुआ नष्ट हो जाता है ॥१४४॥(३०)

हमारे कुल में कोई भी वैर करने वाला न हो, हमारी जाति में कोई भी राजा अथवा मन्त्री दूसरों के धन हरने वाला न हो, कोई मित्रद्रोही, कपटी, झूठा न हो। वृद्ध माता-पिता, अतिथि और घर में भोजन करने वाले विद्वान् से पहले भोजन करने वाला नहीं होना चाहिए ॥१४५॥(३२)

अतिथि का सत्कार

अतिथि के (१) सोने के लिए घास (पराली), (२) बैठने के लिए भूमि, (३) पीने के लिए पानी और (४) वार्तालाप करने के लिए मीठी वाणी ये चारों पदार्थ सज्जनों के घर में से कभी समाप्त नहीं होते हैं ॥१४६॥(३४)

मित्र के लक्षण

वह मित्र नहीं जिसके क्रोध से मनुष्य भयभीत हो, अथवा जिसका आचरण शंकास्पद हो। अपितु जिस [मित्र] पर पिता के समान विश्वास हो वही मित्र है, अन्य सब तो साधारण मेल-जोल वाले हैं ॥१४७॥(३७)

जिस मनुष्य का चित्त चंचल है, जो बूढ़ों की सेवा करनी नहीं जानता, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसके लिए मित्रों का संग्रह असम्भव है ॥१४८॥(३९)

अजितेन्द्रियः

चलच्चित्तमनात्मानम्, इन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समतिवर्त्तन्ते, हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥१४९॥(४०)

दुष्टलक्षणम्

अकस्मादेव कुप्यन्ति, प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनाम्, अभ्रं पारिप्लवं यथा ॥१५०॥(४१)

संतापदोषः

संतापाद् भ्रश्यते रूपं, संतापाद् भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं, संतापाद् व्याधिमृच्छति ॥१५१॥(४४)

धीरकर्त्तव्यम्

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च, लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति, तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥१५२॥
(४७)

शान्तेरुपायाः

नान्यत्र विद्यातपसोर्, नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागात्, शान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥१५३॥(५१)

परिणामसुखावहाः

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य, सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य, तस्यान्ते सुखमेधते ॥१५४॥(५४)

भेद दोषाः

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना, न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति, न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥१५५॥
(५५)

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं, न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति, न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥१५६॥
(५६)

इन्द्रियों के अधीन पुरुष

जिस पुरुष का मन चंचल है, जिसे आत्म-ज्ञान नहीं और जो इन्द्रियों के वश में है उससे अर्थ उसी प्रकार दूर रहते हैं, जैसे सूखे तालाब से हंस ॥१४९॥(४०)

दुष्ट का लक्षण

दुष्ट मनुष्यों का स्वभाव महावात से प्रचालित मेघ के समान चञ्चल होता है। वे अचानक ही क्रुद्ध हो जाते हैं, और बिना कारण प्रसन्न हो जाते हैं ॥१५०॥(४१)

संताप की बुराई

संताप (चिन्ता) से रूप नष्ट हो जाता है; संताप से बल क्षीण हो जाता है; संताप से ज्ञान की हानि हो जाती है और संताप से मनुष्य रोग-ग्रस्त हो जाता है ॥१५१॥(४४)

धीर का कर्त्तव्य

सुख-दुःख, उत्पत्ति-नाश, लाभ-हानि, जीना-मरना ये द्वन्द्व क्रम से सभी को होते रहते हैं। (यह जानकर) धीर पुरुष को हर्ष और शोक नहीं करना चाहिए ॥१५२॥(४७)

शान्ति के उपाय

विद्या और तप के बिना, इन्द्रियों को वश में किए बिना और लोभ के परित्याग किए बिना शान्ति नहीं मिलती ॥१५३॥(५१)

परिणाम में सुख देने वाले

ठीक रीति से पढ़ने का, उचित रीति से किए युद्ध का, सुकर्म का और ठीक तपे हुए तप का परिणाम रूप सुख अन्त में मिलता है ॥१५४॥(५४)

फूट के दोष

परस्पर की फूट से युक्त मनुष्य उत्तम शय्या पर सोते हुए भी सुखपूर्वक निद्रा प्राप्त नहीं कर सकते तथा भाटों द्वारा स्तुति किए हुए भी प्रसन्न नहीं होते, उन्हें स्त्रियों में भी सुख प्राप्त नहीं होता ॥१५५॥(५५)

परस्पर की फूट से युक्त मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर पाते, इस संसार में सुख तथा गौरव को भी नहीं प्राप्त होते हैं तथा उन्हें शान्ति भी अच्छी नहीं लगती है ॥१५६॥(५६)

पतनोन्मुखाः

ब्राह्मणेषु च ये शूराः, स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं, धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥१५७॥(६१)

संघटनगुणाः

अन्योन्यसमुपष्टम्भाद्, अन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्द्धन्ते, सरसीवोत्पलान्युत ॥१५८॥(६५)

विघटनदोषः

महानप्येकजो वृक्षो, बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन, सस्कंधो मर्दितुं क्षणात् ॥१५९॥(६२)

अथ ये संहिता वृक्षाः, संघशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान्, सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥१६०॥(६३)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

यथायोग्यव्यवहारः

यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्, तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्त्तितव्यः, साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥१६१॥
(७)

मानवमृत्युकारणानि

अतिमानोऽतिवादश्च, तथाऽत्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च, मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥१६२॥(१०)
एत एवासयस्तीक्ष्णाः, कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति, न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥१६३॥(११)

हित-वक्ता

सुलभाः पुरुषा राजन्, सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य, वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१६४॥(१५)

पतन के गड्ढे में गिरने वाले

जो दुष्ट, ब्राह्मणों, स्त्रियों, गौओं और स्वजातीय मनुष्यों में अपनी शूरवीरता दिखलाते हैं, हे धृतराष्ट्र, वे डाल से पके हुए फल की तरह् गिर जाते हैं ॥१५७॥(६१)

संगठन के गुण

जैसे तालाब में एक-दूसरे के सहारे से कमल बढ़ते हैं, ऐसे ही पारस्परिक प्रेम से और एक-दूसरे के सहारे से पारिवारिक लोग फूलते-फलते हैं ॥१५८॥(६५)

असंगठन से हानि

बलवान्, महान्, दृढमूल तथा स्थूल स्कन्ध (धड़) से युक्त वृक्ष भी अकेला होने के कारण वायु के वेग से क्षण भर में ही ध्वस्त किया जा सकता है ॥१५९॥(६२)

और (इसके विपरीत) जो वृक्ष समूह में साथ-साथ खड़े होते हैं, वे एक-दूसरे के आश्रय के कारण महान् वायु को भी सह लेते हैं। [इसी प्रकार हे राजन्, बलवान् होता हुआ भी अकेला शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है, पर समूह में रहता हुआ वह समृद्धि को प्राप्त होता है] ॥१६०॥(६३)

अध्याय ३७

यथायोग्य व्यवहार

जो मनुष्य जिस प्रकार का व्यवहार करता है उस मनुष्य से उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। मायाचारी के साथ माया का ही व्यवहार करना चाहिए और सज्जन को सज्जनता से ही मिलना चाहिए ॥१६१॥(७)

मानव की मृत्यु के साधन

अत्यन्त अभिमान, अति विवाद, स्वार्थलिप्सा, क्रोध, आत्म-विडम्बना और मित्रों से वैर, ये छः तीक्ष्ण तलवारें मनुष्य की आयु को काटती हैं (कम कर देती हैं) तथा मनुष्य को मार डालती हैं, मृत्यु नहीं मारती। विदुर धृतराष्ट्र जी से कहते हैं—महाराज! आप कल्याण का मार्ग पकड़ें ॥१६२,१६३॥(१०,११)

हित का वक्ता

हे राजन्, प्यारी बात कहने वाले मनुष्य बहुत मिल जाते हैं, पर अप्रिय और हितकारी वचन का बोलने वाला तथा सुनने वाला दोनों ही दुर्लभ हैं ॥१६४॥(१५)

राज्ञो यथार्थसहायकः

यो हि धर्मं समाश्रित्य, हित्वा भर्तुः प्रियाऽप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान् ॥१६५॥ (१६)

द्यूतनिन्दा

द्यूतमेतत् पुराकल्पे, दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्मात् द्यूतं न सेवेत, हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥१६६॥ (१९)

सुलक्षणः स्वामी

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं, भृत्यस्य सक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्त्तरि विश्वसन्ति, न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥१६७॥
(२२)

राज्ञः अवधानीयम्

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन, राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वंचिता वै विरुद्धाः, स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥१६८॥
(२३)

सुभृत्यः

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः, सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः, शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥१६९॥
(२५)

व्यवहारवर्जनीयाः

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः, पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव, व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥१७०॥
(३०)

नित्यस्नानमाहात्म्यम्

गुणाः दश स्नानशीलं भजन्ते, बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च, श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥१७१॥
(३३)

राजा का सच्चा सहायक

जो स्वामी के क्रोध और प्रसन्नता की चिन्ता न करता हुआ, धर्मानुसार अप्रिय, परन्तु हितकारी वचन कहता है, वही वास्तव में राजा का सहायक है ॥१६५॥(१६)

द्यूत-निन्दा

पहले समय में भी यह देखा गया है कि जुआ शत्रुता का कारण बनता है, अतः हंसी के लिए भी बुद्धिमान् को कभी जुआं नहीं खेलना चाहिए ॥१६६॥(१९)

अच्छा स्वामी

हे राजन्, स्वामि-हित में संलग्न, विश्वसनीय नौकरों पर जो स्वामी कभी क्रोध नहीं करता नौकर उसी स्वामी पर विश्वास करते हैं, और आपत्ति में भी उसे नहीं छोड़ते ॥१६७॥(२३)

राजा के ध्यान देने योग्य

नौकरों के वेतन को रोक कर राजा को अपने धन की तथा राज्य की अपूर्व वृद्धि की इच्छा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वृत्ति से और भोग से हीन होकर विश्वासी आमात्य भी राजा के विरुद्ध होकर उसे छोड़ देते हैं ॥१६८॥(२३)

अच्छा नौकर

जो भृत्य स्वामी के अभिप्राय को जान, आलस्य से रहित हो सारे कार्यों को करता है, तथा जो स्वामी के हित में बोलने वाला, अनुरक्त (विश्वासी), आर्यस्वभाव स्वामी की शक्ति को जानने वाला है। (राजा को चाहिए) कि उस भृत्य की अपने समान पालना करे ॥१६९॥(२५)

व्यवहार में वर्जनीय

अत्यन्त दयालु राजा, कुलटा स्त्री, राजा का नौकर, पुत्र, भाई, छोटे बच्चे वाली विधवा, सैनिक तथा जिसकी सम्पत्ति हर ली गई है, इनके साथ लेन-देन का व्यवहार छोड़ देना चाहिए ॥१७०॥(३०)

नित्य स्नान की महिमा

बल, रूप, मधुर स्वर, उज्ज्वल वर्ण, सुख-स्पर्श, सुगन्ध, पवित्रता, धन और कोमलता तथा सुन्दर स्त्री ये सब नित्य स्नान करने वाले को मिलते हैं ॥१७१॥(३३)

मितभोजनफलम्

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते, आरोग्यतायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं, न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ।।१७२।। (३४)

गृहनिवासानर्हः

अकर्मशीलं च महाशनं च, लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेशं, एतान् गृहे न प्रतिवासयेत ।।१७३।। (३५)

याच्ञानर्हः

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च, वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नम्, एतान् भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ।।१७४।। (३६)

षट् नराधमाः

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं, नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चाप्येतान्न सेवेत नराधमान् षट् ।।१७५।। (३७)

परस्परभावना

सहायबन्धना ह्यर्थाः, सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योऽन्यबन्धनावेतौ, विनान्योन्यं न सिध्यतः ।।१७६।। (३८)

निर्भयजीविकागुणाः

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च, सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्, तस्यावृत्तिभयं कुतः ।।१७७।। (४१)

छिद्रान्वेषिणः दुष्टाः

न तथेच्छन्ति कल्याणान्, परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति, नैर्गुण्यं पापचेतसः ।।१७८।। (४७)

मिताहार का फल

मर्यादित खाने वाले में छः गुण होते हैं—वह स्वस्थ रहता है, तथा उसकी आयु, बल, सुख बढ़ता है, इसकी सन्तान दोष-हीन होती है, तथा वह 'पेटू' इस आक्षेप का पात्र नहीं होता ।।१७२।।(३४)

घर में न ठहराने योग्य

इन व्यक्तियों को अपने घर में नहीं रहने देना चाहिए—अकर्मण्य, पेटू, लोकनिन्दित, बहुत प्रपञ्ची, निर्दय और देशकाल को न जानने वाला (देशकालानभिज्ञ) और शिष्टनिन्दित वेश वाला ।।१७३।। (३५)

मांगने के अयोग्य

बहुत दुःखी होने पर भी कंजूस, गाली देने वाले, अनपढ़, वनवासी, धूर्त्त, अपूज्यों की पूजा करने वाले, निर्दय सबको शत्रु बनाने वाले और कृतघ्न से कभी याचना नहीं करनी चाहिए। ।।१७४।।(३६)

छः नराधम

आततायी, अत्यन्त आलसी, सदा झूठ बोलने वाला, श्रद्धाहीन, प्रेमहीन, स्वयं को चतुर मानने वाला—इन छः मनुष्यों की आराधना नहीं करनी चाहिए ।।१७५।।(३७)

एक दूसरे की सहायता

सहयोग से ऐश्वर्य मिलता है, ऐश्वर्य से ही सहयोगी बनते हैं। ये दोनों परस्पर के सहयोग से ही होते हैं (और) एक-दूसरे के बिना सिद्ध नहीं होते ।।१७६।।(३८)

जीविका में निर्भय होने के गुण

उन्नत होने की शक्ति, विशिष्ट प्रभाव, प्रतिद्वन्द्वियों को जीतने के लिए तेज, आत्मबल, प्रगतिशीलता तथा दृढ़संकल्पता—ये गुण जिस पुरुष में हैं उसे जीविका के नाश का भय कैसे हो सकता है ? ।।१७७।।(४१)

दोषदृष्टि वाला दुष्ट व्यक्ति

दुष्ट जन दूसरों के उत्तम गुणों के जानने की उतनी इच्छा नहीं करते, जितनी कि उनके दोषों को जानने की इच्छा रखते हैं ।।१७८।।(४७)

धर्मार्थसम्बन्धः

अर्थसिद्धिं परामिच्छन्, धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः, स्वर्गलोकादिवामृतम् ।।१७९।।(४८)

धर्मार्थकामानुष्ठानम्

यो धर्ममर्थं कामं च, यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं, सोऽमुत्रेह च विन्दति ।।१८०।।(५०)

लक्ष्मीभाजनम्

सन्नियच्छति यो वेगम्, उत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन्, यश्चापत्सु न मुह्यति ।।१८१।।(५१)

यथार्थबलवर्णनम्

बलं पञ्चविधं नित्यं, पुरुषाणां निबोध मे ।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ।।१८२।।(५२)
अमात्यलाभो भद्रं ते, द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु, बलमाहुर्मनीषिणः ।।१८३।।
यत्त्वस्य सहजं राजन्, पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम, तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ।।१८४।।(५४)
येन त्वेतानि सर्वाणि, संगृहीतानि भारत ।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ।।१८५।।(५५)

वैरिणः सावधानता

महते योऽपकाराय, नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य, दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।।१८६।।(५६)

निरादरानर्हाः

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च, कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण, सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ।।१८७।।(५९)

धर्म तथा अर्थ का सम्बन्ध

बुद्धिमान् मनुष्य अर्थ की परम सिद्धि को चाहता हुआ, प्रथम धर्म का ही आचरण करे। क्योंकि जैसे स्वर्ग से अमृत पृथक् नहीं हो पाता, वैसे ही धर्म से अर्थ भी दूर नहीं होता है ॥१७९॥(४८)

धर्म, अर्थ, काम का अनुष्ठान

जो मनुष्य समयानुसार धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, वह इस संसार में और परलोक में भी धर्म, अर्थ और काम को समष्टिरूप में प्राप्त करता है ॥१८०॥(५०)

लक्ष्मी का पात्र

हे राजन्! जो मनुष्य, क्रोध या हर्ष के कारण आए हुए दुःखात्मक तथा आनन्दात्मक वेग को रोक सकता है, तथा आपत्तियों में मोह को प्राप्त नहीं होता (नहीं घबराता), वह ही लक्ष्मी प्राप्त करने का पात्र है ॥१८१॥(५१)

सच्चे बल

राज-पुरुषों के उत्तरोक्त पांच प्रकार के बल होते हैं, इनमें जो बाहुबल है, वह सबसे तुच्छ कनिष्ठ होता है ॥१८२॥(५२)

तुम्हारा कल्याण हो, अच्छे मन्त्रियों की प्राप्ति दूसरा बल है, तथा धन की प्राप्ति तीसरा बल है, तथा दादा-परदादा से आया हुआ (परम्परागत) कुल का बल चौथा बल है ॥१८३,१८४॥(५४)

जिसमें इन चारों बलों का संग्रह हो जाता है, वह सब बलों में श्रेष्ठ (पांचवां बल) बुद्धि का बल है ॥१८५॥(५५)

वैरी से सावधान रहना

जो मनुष्य बड़े भारी अपकार (हानि) को कर सकने में समर्थ है, उससे शत्रुता करके 'मैं उसकी पहुँच' से परे हूँ' इस प्रकार का आश्वासन (भरोसा) अपने हृदय में नहीं लाना चाहिए ॥१८६॥ (५६)

अनादर के अयोग्य

सांप, अग्नि, सिंह तथा कुलीन मनुष्यों का निरादर कभी नहीं करना चाहिए, ये सब अति तेजस्वी होते हैं ॥१८७॥(५९)

नोट—पांच बल ये कहे हैं—प्रज्ञाबल, कुलबल, धनबल, मित्रबल, बाहुबल।

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

भिक्षुक-लक्षणम्

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकांचनः, प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये, त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः॥
॥१८८॥(६)

बुद्धिमतो नावमानयेत्

अपकृत्य बुद्धिमतो, दूरोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू, ताभ्यां हिंसति हिंसितः॥१८९॥(८)

स्त्रीमाहात्म्यम्

पूजनीया महाभागाः, पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्, तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥१९०॥(११)

वसुदा वसुन्धरा

अमोघक्रोधहर्षस्य, स्वयं कृत्वान्ववेक्षिणः।
आत्मप्रत्ययकोशस्य, वसुदैव वसुन्धरा॥१९१॥(२६)

चरित्रज्ञानम्

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद, भर्त्ता वेद स्त्रियं तथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद, राजा राजानमेव च॥१९२॥(२८)

अनुपेक्ष्यः शत्रुः

न शत्रुर्वशमापन्नो, मोक्तव्यः वध्यतां गतः।
अहताद्धि भयं तस्माज्, जायते न चिरादिव॥१९३॥(२९)

अध्याय ३८

संन्यासी का लक्षण

क्रोधहीन, मिट्टी, पत्थर और कंचन को सम समझने वाला, शोक से मुक्त, संधि और विग्रह से ऊपर उठा हुआ, निंदा और प्रशंसा से विरक्त, उदासीन की भांति प्रिय और अप्रिय का परित्यागी ही संन्यासी होता है ॥१८८॥(६)

बुद्धिमान् का तिरस्कार न करे

बुद्धिमान् का अपकार करके "मैं उससे दूर हूँ" इस प्रकार समझ कर आश्वस्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि बुद्धिमान् की भुजाएँ लम्बी होती हैं। वह अपकृत हुआ उन भुजाओं से अपकार करने वाले की हिंसा कर देता है ॥१८९॥(८)

नारी-महिमा

सौभाग्यवती कल्याणी स्त्रियां घर को प्रकाशित करने वाली होती हैं, अतः वे पूजा के योग्य हैं। स्त्रियां घर की लक्ष्मी बताई गई हैं, अतः उनकी विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए ॥१९०॥ (११)

धन देने वाली वसुन्धरा

जो वृथा क्रोध नहीं करता, न ही वृथा प्रसन्न होता है, जो कामों को करके स्वयं जांचता है, तथा जो राज्य के कोश का निरीक्षण स्वयं ही करता है, ऐसे राजा की पृथ्वी सचमुच ही धन देने वाली होती है ॥१९१॥(२६)

चरित्र का ज्ञान

ब्राह्मण को ब्राह्मण जानता है, स्त्री को पति जानता है, मन्त्री को राजा ही जान सकता है, तथा राजा को अन्य राजा ही जान सकता है ॥१९२॥(२८)

शत्रु की उपेक्षा मत करो

वश में आए हुए, मारने के योग्य शत्रु को राजा कभी न छोड़े, शत्रु को न मारने से उससे शीघ्र ही हानि होने का भय है ॥१९३॥ (२९)

क्रोधस्याभाजनानि

दैवतेषु प्रयत्नेन, राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो, वृद्धबालातुरेषु च ॥१९४॥ (३०)

अयोग्यः नृपतिः

प्रसादो निष्फलो यस्य, क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति, षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥१९५॥ (३२)

प्राज्ञः

न बुद्धिर्धनलाभाय, न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं, प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥१९६॥ (३३)

अनर्थभाजनम्

अनार्यवृत्तमप्राज्ञम्, असूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति, वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥१९७॥ (३५)

लोकसंग्रहः

अविसंवादनं दानं, समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्त्तयन्ति भूतानि, सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥१९८॥ (३६)

प्रशस्तः पुरुषः

अविसंवादको दक्षः, कृतज्ञो मतिमानृजुः।
अपि संक्षीणकोशोऽपि, लभते परिवारणम् ॥१९९॥ (३७)

निर्दोषे क्रोधफलम्

न च रात्रौ सुखं शेते, ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं, सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥२००॥ (४०)

मृतप्रायो मानवः

यं प्रशंसन्ति कितवाः, यं प्रशंसन्ति चारणाः।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो, न स जीवति मानवः ॥२०१॥ (४५)

क्रोध के अपात्र

देवता, राजा, ब्राह्मण, वृद्ध, बालक, रोगी इन पर क्रोध नहीं करना चाहिए और आते हुए क्रोध को प्रयत्न से रोक देना चाहिए। ॥१९४॥(३०)

अयोग्य राजा

जिसकी प्रसन्नता तथा रोष निरर्थक है उस राजा को प्रजाएँ नहीं चाहती हैं, जैसे स्त्री नपुँसक पति को नहीं चाहती ॥१९५॥(३२)

बुद्धिमान्

बुद्धि का फल धन-प्राप्ति और जडता का फल दरिद्रता ही नहीं है। इस लोक के धन-प्राप्ति तथा निर्धनता के क्रम को बुद्धिमान् ही जानता है, अन्य नहीं ॥१९६॥(३३)

अनर्थ के पात्र

कदाचारी, मूर्ख, ईर्ष्यालु, अधार्मिक, परुष वाणी वाले और क्रोधी—इनको अनर्थ जल्दी ही दबोच लेते हैं ॥१९७॥(३५)

प्राणियों को अपना बनाने के गुण

निरर्थक वाद न करना, दान देना, समय की मर्यादा को न तोड़ना, खूब सोच-विचार कर बात कहना—ये गुण सभी को अपना बना लेते हैं ॥१९८॥(३६)

प्रशंसनीय व्यक्ति

निरर्थक विसंवाद न करने वाला, चतुर, उपकार को मानने वाला, बुद्धिमान्, सरल मनुष्य धन के न होने पर भी सबको अपना बना लेता है ॥१९९॥(३७)

निर्दोष पर क्रोध का फल

स्वयं दोषी होकर जो निर्दोष आत्मीय जन को क्रोध दिलाता है, वह रात को भी सुख से सो नहीं पाता। जैसे सर्प वाले घर में सुख से निद्रा नहीं आती ॥२००॥(४०)

मरे हुए के समान व्यक्ति

धूर्त, भाट और वेश्याएँ जिस मनुष्य की प्रशंसा करती हैं, वह मनुष्य जीवित नहीं (मृत जैसा है), अर्थात् सज्जन जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही जीवित है ॥२०१॥(४५)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

अयथाकालं वक्ता

अप्राप्तकालवचनं, बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्धयवज्ञानम्, अवमानं च भारत ॥२०२॥(२)

अभ्युदयान्ता क्षतिरपि श्रेयसी

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या, या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो, यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥२०३॥(६)
न स क्षयो महाराज, यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो, यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥२०४॥(७)

त्यागार्हाः मनुष्याः

परापवाद-निरताः, पर-दुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च, यतन्ते सततोत्थिताः ॥२०५॥(११)
सदोषं दर्शनं येषां, संवासे सुमहद् भयम् ।
अर्थादाने महान् दोषः, प्रदाने च महद् भयम् ॥
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्, ये नरास्तान् विवर्जयेत् ॥२०६॥(१२)

ज्ञातयः

ज्ञातयस्तारयन्तीह, ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह, दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥२०७॥(२५)

परिहर्तव्यं कर्म

येन खट्वां समारूढः, परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत् कुर्याद्, अध्रुवे जीविते सति ॥२०८॥(२९)

विद्वद्वचनानुचिन्तने यशोलाभः

सुव्याहृतानि धीराणां, फलतः परिचिन्त्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु, चिरं यशसि तिष्ठति ॥२०९॥(३३)

अध्याय ३९

समय को न देखकर बोलने वाला

समय के प्रतिकूल वचनों को बोलता हुआ बृहस्पति-समान पुरुष भी मूर्ख समझा जाता है तथा अपमानित होता है ॥२०२॥(२)

उन्नतिप्रद हानि भी अच्छी है

जो प्रगति (उन्नति), क्षय का कारण बने, वह प्रगति अभिनन्दनीय नहीं। वह क्षति भी अभिनन्दनीय है, जो प्रगति (उन्नति) करा सके ॥२०३॥(६)

हे राजन्, वह हानि, हानि नहीं जो भविष्य में वृद्धि को प्राप्त कराए, हानि वही है, जो भविष्य में महानाश करा दे ॥२०४॥(७)

त्याग के योग्य व्यक्ति

जो दूसरों की निन्दा में लगे रहते हैं, दूसरों को दुःखी करने तथा पारस्परिक विरोध डालने में सदा जागरूक होकर यत्न करते हैं। जिनकी दृष्टि दोषयुक्त है, जिनके साथ रहना भयपूर्ण है, जिनसे धन लेने में दोष और धन देने में बड़ा भारी भय है। इन उपर्युक्त तथा अन्य महादोषों से जो युक्त हैं, ऐसे पुरुषों को सर्वथा छोड़ देना चाहिए ॥२०५,२०६॥(११,१२)

जाति के लोग

सम्बन्धी ही मनुष्य को डुबा देते हैं, और वही पार भी करा देते हैं। सज्जन सम्बन्धी तार देते हैं, दुष्ट डुबा देते हैं ॥२०७॥(२५)

छोड़ने योग्य कर्म

अतएव जीवन क्षणिक है, इसलिये जिन कामों के करने से रात को चारपाई पर पड़ा मनुष्य पश्चात्ताप करे, उन कामों को पहले से ही नहीं करना चाहिए ॥२०८॥(२९)

विद्वानों के वचनपालन से यश

जो मनुष्य परिणाम का विचार करके विद्वानों के वचनों को क्रियान्वित करता है, वह बहुत कालपर्यन्त यशस्वी रहता है। ॥२०९॥(३३)

नष्टं द्रव्यम्

नष्टं समुद्रे पतितं, नष्टं वाक्यमशृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं, नष्टं हुतमनग्निकम् ॥२१०॥(४२)

दोषनाशसाधनानि

अकीर्तिं विनयो हन्ति, हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधम्, आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥२११॥(४४)

रक्षायोग्यं मित्रम्

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं, धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च, सुहृदं परिपालयेत् ॥२१२॥(४६)

मित्रताऽनर्हाः

अवलिप्तेषु मूर्खेषु, रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु, न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥२१३॥(५०)

सफलः पुरुषः

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्, तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो, नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥२१४॥(५६)

चञ्चला लक्ष्मीः

न चातिगुणवत्सु श्रीर्, नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान् कामयते, नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ॥
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः, क्वचिदेवावतिष्ठते ॥२१५॥(६५)

बलवर्णनम्

तपोबलं तापसानां, ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां, क्षमा गुणवतां बलम् ॥२१६॥(७०)

नष्ट वस्तु

समुद्र में गिरी हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, न सुनने वाले को सुनाया हुआ वचन नष्ट हो जाता है, अजितेन्द्रिय मनुष्य का शास्त्र-ज्ञान और राख में किया हुआ हवन नष्ट हो जाता है ।।२१०।। (४२)

बुराइयों के नाश के कारण

विनय अपयश का नाश कर देता है, पराक्रम अनर्थ का, क्षमा क्रोध का, और (सद्) आचार अलक्षण (दुर्गुण) का नाश कर देता है ।।२११।। (४४)

रक्षा के योग्य मित्र

विद्वानों की सेवा करने वाले, वैद्य, धार्मिक, प्रियदर्शन, मित्रवान्, मधुरभाषी सुहृद् की सर्वथा रक्षा करनी चाहिए ।।२१२।। (४६)

मैत्री के अयोग्य

अभिमानी, मूर्ख, भयानक, आततायी और अधार्मिक इनसे बुद्धिमान् को मैत्री नहीं करनी चाहिए ।।२१३।। (५०)

सफल पुरुष

भावी दुःख के निराकरण के उपाय को जानने वाले, वर्तमान में आए दुःख को दृढता से सहने वाले तथा अतीत दुःख को न सोचकर शेष कार्य करने वाले मनुष्यों का प्रयोजन कभी नष्ट नहीं होता, अर्थात् वे सफल हो जाते हैं ।।२१४।। (५६)

लक्ष्मी चंचल है

लक्ष्मी न अधिक गुण वालों के पास, न अत्यन्त निर्गुण के पास रहती है, क्योंकि यह न गुणों की कामना करती है, न निर्गुणों से प्रेम करती है। यह अन्धी लक्ष्मी कहीं ही कुछ देर तक ठहरती है, जैसे पागल हुई गौ कहीं ठहरती नहीं ।।२१५।। (६५)

बल

तपस्वियों का बल तप है, ब्रह्मज्ञानियों का बल ज्ञान है, दुष्टों का बल हिंसा है, गुणवानों का बल क्षमा है ।।२१६।। (७०)

न तत् परस्य संदध्यात्, प्रतिकूलं यदात्मनः।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्, कामादन्यः प्रवर्त्तते ॥२१७॥ (७२)

विश्वासाऽयोग्याः

स्त्रीधूर्त्तकेऽलसे भीरौ, चण्डे पुरुषमानिनि।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो, न कार्यो न च नास्तिके ॥२१८॥ (७४)

जयसाधनम्

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम् ॥२१९॥ (७४)

शोच्याः के

अविद्यः पुरुषः शोच्यः, शोच्यं मैथुनमप्रजम्।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः, शोच्यं राज्यमराजकम् ॥२२०॥ (७८)

असंभवो जयः

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां, न कामेन जयेत् स्त्रियः।
नेन्धनेन जयेदग्निं, न पानेन सुरां जयेत् ॥२२१॥ (८३)

यथार्थज्ञाने न मोहः

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वम्, इति पश्यन् न मुह्यति ॥२२२॥ (८५)

चत्वारिंशोऽध्यायः

यशस्वी पुरुषः

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः, करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्तम्, अलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः।
॥२२३॥ (१)

अपने प्रतिकूल बात दूसरों के लिये न करें

जो कार्य अपने प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। यह धर्म का संक्षिप्त स्वरूप है, इससे अन्य प्रवृत्ति वासना-मूलक है ।।२१७।। (७२)

विश्वास के अपात्र

स्त्री, धूर्त्त, आलसी, डरपोक, क्रूर, पुरुषत्व के अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिक का विश्वास नहीं करना चाहिए ।।२१८।। (७४)

विजय के साधन

सहनशीलता से क्रोध पर, सद्-व्यवहार से दुष्ट पर, वदान्यता (दानी होने) से कृपण पर और सत्य से झूठ पर विजय प्राप्त करनी चाहिए ।।२१९।। (७५)

शोक के योग्य कौन हैं ?

विद्याहीन पुरुष शोक के योग्य है। संतानोत्पत्ति के विचार के अभाव में केवल वासनाजन्य स्त्री-पुरुष का संयोग भी शोचनीय है, (देश में) भूखी प्रजा भी शोचनीय है। राजा से रहित राष्ट्र भी शोचनीय है ।।२२०।। (७८)

इन आचरणों से जय असम्भव है

अधिक सोने से निद्रा नहीं जीती जाती, अधिक वासना से स्त्रियां वश में नहीं होतीं। ईंधन से अग्नि शांत नहीं होती, और पान करने से सुरा पर विजय नहीं पाई जा सकती ।।२२१।। (८३)

यथार्थ ज्ञान होने पर मोह नहीं

जिसे यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वी पर जो धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियां हैं—ये केवल एक के लिए ही नहीं हैं, (अपितु सभी के लिए हैं) वह व्यक्ति मूढ नहीं होता ।।२२२।। (८५)

अध्याय ४०

यशस्वी पुरुष

जो व्यक्ति सज्जनों से समादृत हुआ अनासक्ति के भाव से अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करता है, उसे यश शीघ्र ही मिल जाता है। सदाचारी सदा सुखी और प्रसन्न रहते हैं ।।२२३।। (१)

विद्याशत्रवः

असूयैकपदं मृत्युर्, अतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा, विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥२२४॥(४)

विद्यार्थिणां दोषाः

आलस्यं मदमोहौ च, चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं, तथाऽत्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥२२५॥(५)
सुखार्थिनः कुतो विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥२२६॥(६)

हन्तारः

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः, क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यताम्।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राजन्, एकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम्।
॥२२७॥(८)

धर्ममाहात्म्यम्

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि, पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्याऽपि हेतोः।
॥२२८॥(१३)

मृतस्य न केऽपि बन्धवः

उत्सृज्य विनिवर्त्तन्ते, ज्ञातयो सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात पतत्त्रिणः ॥२२९॥(१७)

पुण्यकर्मा

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था, सत्योदया धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा, पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव।
॥२३०॥(२१)

विद्या के शत्रु

ईर्ष्या करना विद्या की तत्काल मृत्यु है। बहुत वाद-विवाद विद्या की हत्या है। गुरु-जन की सेवा न करना, अतिशीघ्रता और अपनी विद्या का अभिमान—ये भी तीनों विद्या के शत्रु हैं ॥२२४॥(४)

विद्यार्थियों के दोष

आलस्य, मद और मोह, चंचलता, अश्लील गोष्ठी, धृष्टता, अभिमान तथा विद्या-दान का अभाव—ये सात विद्यार्थियों के दोष हैं ॥२२५॥(५)

सुख चाहने वाले को विद्या कहां, और विद्यार्थी को सुख कहां ? अतः, सुखार्थी को विद्या छोड़ देनी चाहिए और विद्यार्थी को सुख का ध्यान नहीं रखना चाहिए ॥२२६॥(६)

हत्यारे

आशा (तृष्णा) धैर्य का, काल समृद्धि का, क्रोध लक्ष्मी का, यश कंजूसी का, और सेवा का अभाव पशुओं का नाश कर देता है, परन्तु क्रुद्ध हुआ एक सच्चा ब्राह्मण राष्ट्र को नष्ट कर देता है ॥२२७॥(८)

धर्म की महिमा

तुम्हें मैं बहुत बढ़िया बात बताता हूं, जोकि पुण्यमयी तथा सबसे उत्तम है। बुद्धिमान् पुरुष को जीवन के हेतु भी कामनावश, भयवश और लोभवश धर्म का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए ॥२२८॥(१३)

मरे हुए का कोई नहीं

जैसे फल-फूल से रहित वृक्ष को पक्षिगण छोड़ देते हैं, इसी प्रकार (मरे हुए मनुष्य को) बिरादरी के लोग, मित्र तथा पुत्रादि छोड़कर चले जाते हैं ॥२२९॥(१७)

पुण्यकर्मी

हे भारत, आत्मा नदीरूप है, पुण्य इसका घाट है, नदी का उद्भव सत्य है, धैर्य इसके किनारे हैं, दया इसकी लहरें हैं। इसमें पुण्यकर्मा, अलोभी और पुण्यात्मा ही स्नान करके पवित्र होते हैं ॥२३०॥(२१)

जीवन-नदी

कामक्रोधग्राहवतीं, पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा, जन्मदुर्गाणि संतर ॥२३१॥(२२)

के कथं रक्ष्याः ?

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्, पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा, मनोवाचं च कर्मणा ॥२३२॥(२४)

वृद्ध-पूजा

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं, विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य, यः संपृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ।
॥२३३॥(२३)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दमः

इह निःश्रेयसं प्राहुः, वृद्धाः निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण, दमो धर्मः सनातनः ॥२३४॥(९)

दान्तः पुरुषः

क्षमा-धृतिरहिंसा च, समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं, मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२३५॥(१४)
अकार्पण्यमसंरम्भः, संतोषः श्रद्दधानता ।
एतानि यस्य राजेन्द्र, स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥२३६॥(१५)
मन्युर् ईर्ष्या च शोकश्च, नैतद्दान्तो निषेवते ।
अजिह्ममशठं शुद्धं, एतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥२३७॥(१६)

कर्मणाचरितं पूर्वं, सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवास्थाय मोदन्ते, दान्ताः शमपरायणाः ॥२३८॥(२१)

जीवनरूपी नदी

काम, क्रोध आदि मगरमच्छों से भरी हुई, पंचइन्द्रियरूपी जल वाली इस जीवन-नदी को पार करने के लिए धैर्य-रूपी नाव बनाकर जीवन की कठिनाइयों को पार करो ॥२३१॥(२२)

किनकी कैसे रक्षा करनी चाहिए?

पेट तथा मूत्रेन्द्रिय की धैर्य से, हाथ-पाँव की आँख से, आँख-कान की मन से, मन और वाणी की कर्म से रक्षा करनी चाहिए।
॥२३२॥ (२४)

वृद्धों की पूजा

बुद्धि में महान्, धर्म में बड़े, विद्या में निष्णात और आयु में ज्येष्ठ अपने बन्धु की किसी भी कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के अवसर पर पूजा करके तथा उन्हें प्रसन्न करके जो संमति लेता है, वह कभी मूढ नहीं होता ॥२३३॥(२३)

अध्याय ६३

इन्द्रिय-दमन

निश्चय पर पहुँचे हुए वृद्ध जनों ने सर्वसाधारण के लिए तथा विशेषकर ब्राह्मण के लिए निःश्रेयस का अनादि मार्ग दम [इन्द्रिय का दमन] बताया है ॥२३४॥(९)

दमशील पुरुष

क्षमा का धारण, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, जितेन्द्रियता, धैर्यप्रकृति, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, अकृपणता, अक्रोध, संतोष तथा श्रद्धायुक्त होना—ये उपर्युक्त सद्गुण जिस पुरुष में हैं, वह, हे राजन्, 'दान्त' कहलाता है ॥२३५-२३६॥(१४-१५)

क्रोध, ईर्ष्या और शोक ये दान्त पुरुष में नहीं होते तथा जो पुरुष कुटिल नहीं, धूर्त्त नहीं, शुद्ध है, वह दान्त कहलाता है ॥२३७॥(१६)

स्वयमेव पहले आचरण किए हुए और सज्जनों द्वारा आचरण किए गए जो शुभ कर्म हैं, उन्हीं कर्मों पर स्थिर रहकर शमशील दान्त पुरुष सुखी होते हैं ॥२३८॥(२१)

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

वृद्धोपासनम्

यस्मिन् काले सुमनसः, सर्वे वृद्धानुपासते ।
सिंहगुप्तमिवारण्यम्, अप्रधृष्या भवन्ति ते ॥२३९॥(१२)

लक्ष्म्या अभिनन्दनम्

येऽर्थं सन्ततमासाद्य दीना इव समासते ।
श्रियं ते संप्रयच्छन्ति, द्विषद्भ्यो भरतर्षभ ॥२४०॥(१३)

ज्ञातिस्वभावाः

धूमायन्ते व्यपेतानि, ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव, ज्ञातयो भरतर्षभ ॥२४१॥(१४)

अध्याय ६४

वृद्धों का संग

जब सभी जन प्रसन्नचित्त होकर विद्या, आयु और अनुभव से युक्त वृद्धों की मंत्रणा के अनुसार चलते हैं, तब वे सदा अपराजित रहते हैं। जैसे सिंह से सुरक्षित वन किसी से नष्ट नहीं किया जा सकता ।।२३९।। (१२)

लक्ष्मी का स्वागत

जो निरन्तर धन प्राप्त करके भी दीन (गरीब) बने रहते हैं, वे अपने-आप ही अपनी लक्ष्मी को शत्रुओं के अर्पण कर देते हैं ।।२४०।। (१३)

सम्बन्धियों का स्वभाव

सम्बन्धी उस उल्मुक (जलती हुई अकेली लकड़ी) की तरह हैं, जो पृथक्-पृथक् रहकर धुआँ करते हैं, पर मिल जाने पर जलते हैं अर्थात् प्रकाश देते हैं ।।२४१।। (१४)



शुक्र-नीति

[अध्याय १–५]

प्रथमोऽध्यायः

नीतिशास्त्रमहत्त्वम्

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ।।१।।(५)

सर्वलोकव्यवहारस्थितिर् नीत्या विना नहि ।
यथाशनैर्विना देह-स्थितिर् न स्याद्धि देहिनाम् ।।२।।(११)

स्वधर्मपालनम्

यो हि स्वधर्मनिरतः, स तेजस्वी भवेदिह ।
विना स्वधर्मान्न सुखं, स्वधर्मो हि परं तपः ।।३।।(२४)

धूर्तः

राजसो दाम्भिको लोभी, विषयी वञ्चकः शठः ।
मनसाऽन्यच्च वचसा, कर्मणा कलहप्रियः ।।४।।(३३)

कर्म

कर्मैव कारणं चात्र, सुगतिं दुर्गतिं प्रति ।
कर्मैव प्राक्तनमपि, क्षणं किं कोऽस्ति चाक्रियः ।।५।।(३७)

वर्णाः कर्माश्रिताः

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव न ।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो, भेदिता गुणकर्मभि. ।।६।।(३८)

अध्याय १

नीतिशास्त्र की महिमा

नीतिशास्त्र को सब मनुष्यों के जीवनोपयोगी, लोकमर्यादा का स्थापक, धर्म, अर्थ और काम का साधक तथा मोक्ष का प्रदाता कहा है ॥१॥(५)

जैसे भोजन के बिना देह-धारियों के देह का अस्तित्व स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार नीति के बिना लोक में वर्तमान सभी प्रकार के व्यवहारों की स्थिति स्थिर नहीं रह सकती ॥२॥(११)

स्वधर्मपालन

जो व्यक्ति अपने धर्म (कर्त्तव्य) में संलग्न रहता है वह संसार में तेजस्वी होता है। अपने कर्त्तव्यपालन के बिना सुख प्राप्त नहीं होता। स्वधर्म-पालन ही परम तप है ॥३॥(२४)

धूर्त

रजोगुणी मनुष्य दम्भी, लोभी, विषयी, ठग और कपटी होता है। झगड़ालू व्यक्ति का कर्म और होता है, वचन और होता है और उसके मन के भाव और होते हैं अर्थात् उसके मन, वचन और कर्म में विषमता होती है ॥४॥(३३)

कर्म

सुगति तथा दुर्गति का कारण कर्म ही होता है चाहे वे कर्म इस जन्म के हों या पूर्व जन्मों के हों। कोई भी मनुष्य क्षण-भर के लिए बिना कर्म के नहीं रह सकता ॥५॥(३७)

कर्म के अधीन वर्ण

कोई भी मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा म्लेच्छ जन्म से नहीं होता। गुण तथा कर्म से ही उनका परस्पर भेद है ॥६॥(३८)

ब्राह्मणस्तु समुत्पन्नाः, सर्वे ते किं नु ब्राह्मणाः।
न वर्णतो न जनकाद्, ब्राह्मतेजः प्रपद्यते ॥७॥(३९)

भवतीष्टं सत्क्रियया, अनिष्टं तद् विपरीतया।
शास्त्रतः सदसज् ज्ञात्वा, त्यक्त्वाऽसत् सत्समाचरेत् ॥८॥(५९)

विनयः

नयस्य विनयो मूलं, विनयः शास्त्रनिश्चयात्।
विनयस्येन्द्रियजयस्, तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति ॥९॥(९२)

आत्मानं प्रथमं राजा, विनयेनोपपादयेत्।
ततः पुत्राँस्ततोऽमात्यान्, ततो भृत्याँस्ततः प्रजाम्।
परोपदेशकुशलः, केवलो न भवेन्नृपः ॥१०॥(९४)

मंत्रिणः

भ्रष्टश्रीः स्वामिता राज्ञो, यस्य दान्ता न मंत्रिणः।
तथाविनीता दायादा, दुष्टाः पुत्रादयोऽपि च ॥११॥(९६)

इन्द्रियसंयमः

प्रकीर्णविषयारण्ये, धावन्तं विप्रमाथिनम्।
ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत, वशमिन्द्रियदन्तिनम् ॥१२॥(९८)

विषयामिषलोभेन, मनः प्रेरयतीन्द्रियम्।
तन्निरुध्यात् प्रयत्नेन, जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥१३॥ (९९)

ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं, इस कारण से वे सभी क्या ब्राह्मण हैं ? वर्ण से अर्थात् ब्राह्मण माता-पिता से और न ही (केवल) पिता के सम्बन्ध से ब्राह्मतेज प्राप्त किया जाता है। अपितु कर्म से ही ब्राह्मतेज प्राप्त होता है ॥७॥ (३९)

सत् कर्म से प्रिय होता है और असत् कर्म से अप्रिय होता है। अतः शास्त्र से सत् तथा असत् कर्म का ज्ञान प्राप्त करके असत् कर्म को छोड़कर सत्कर्म का आचरण करना चाहिए ॥८॥ (५९)

सुशिक्षा

नीति का मूल कारण विनय* है। शास्त्र के तत्त्वों के समझ लेने से विनय की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय का संयम भी विनय का कारण है। इन्द्रिय-संयमी ही शास्त्र के तत्त्व को जान पाता है ॥९॥ (९२)

राजा, अर्थात् शासन करने वाले, के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले अपने-आप को विनीत बनाए, तदनन्तर अपने पुत्रों, सचिवों, सेवकों और प्रजा को विनीत बनाए। केवल दूसरों को उपदेश देने में ही राजा को कुशल नहीं होना चाहिए ॥१०॥ (९४)

मंत्री

जिस शासक के सचिव संयमी नहीं, राज्याधिकारी विनीत नहीं, पुत्रादि-सम्बन्धी दुष्ट हैं, उसका स्वामित्व नष्ट हो जाता है ॥११॥ (९६)

इन्द्रिय-संयम

निबिड विषयरूपी जंगल में इधर-उधर भाग रहे और नाश कर रहे इन्द्रिय रूपी मत्त हाथी को ज्ञान के अंकुश से वश में करना ही उचित है ॥१२॥ (९८)

मन विषयरूपी मांस के लोभ से इन्द्रियों को प्रेरणा करता है। अतः प्रयत्नपूर्वक उस मन को ही संयत करना उचित है। उस मन को जीत लेने पर मनुष्य जितेन्द्रिय हो जाता है ॥१३॥ (९९)

---

*विनय—सुशिक्षा का नाम है। विनीत का अर्थ सुशिक्षित होता है।

त्रितयम् अनर्थंकृत्

द्यूतं स्त्रीमद्यमेवैतत् त्रितयं बह्वनर्थंकृत् ।
अयुक्तं, युक्तियुक्तं हि धनपुत्रमतिप्रदम् ॥१४॥(१०९)

धर्मपुत्रनलाद्यास्तु, सुद्यूतेन विनाशिताः ।
सकापट्यं धनायालं, द्यूतं भवति तद्विदाम् ॥१५॥(११०)

मुनेरपि मनोऽवश्यं, सरागं कुरुतेऽङ्गना ।
जितेन्द्रियस्य, का वार्ता किं पुनश्चाजितात्मनाम् ॥१६॥(११३)

अतत्परनरस्यैव स्त्रीसुखाय भवेत् सदा ।
साहायिनी गृहकृत्ये, तां विनान्या न विद्यते ॥१७॥(११५)

अतिमद्यं हि पिबतो बुद्धिलोपो भवेत् किल ।
प्रतिभां बुद्धिवैशद्यं धैर्यं चित्तविनिश्चयम् ।
तनोति मात्रया पीतं, मद्यमन्यद् विनाशकृत् ॥१८॥ (११६)

काम-क्रोधौ

कामक्रोधौ मद्यतमौ, नियोक्तव्यौ यथोचितम् ।
कामः प्रजापालने च, क्रोधः शत्रुनिबर्हणे ॥१९॥ (११८)

परस्त्रीसंगमे कामो, लोभो ह्यन्यधनेषु च ।
स्वप्रजादण्डने क्रोधो, नैव धार्यो नृपैः कदा ॥२०॥ (११९)

नीतिवाक्यम्

किमुच्यते कुटुम्बीति, परस्त्रीसंगमान्नरः ।
स्वप्रजादण्डनाच्छूरो, धनिकोऽन्यधनैश्च किम् ॥२१॥ (१२०)

तीन अनर्थकारी

जुआ, स्त्री और सुरा—ये तीनों अयुक्त रूप से सेवन किए जाएँ, तो बड़ा भारी अनर्थ कर देते हैं। यदि इन्हें युक्ति से सेवन किया जाए, तो धन, पुत्र और बुद्धि के देने वाले बन जाते हैं ।।१४।।(१०९)

धर्मराज युधिष्ठिर तथा राजा नल सरल भाव से जुआ खेलते हुए राज्य से भ्रष्ट हो गए। खेलने में चतुर मनुष्यों के लिए कपट-सहित जुआ, धन के लाने वाला होता है ।।१५।।(११०)

अङ्गनाएँ (स्त्रियाँ) जितेन्द्रिय मुनि के मन को भी अवश्य राग-युक्त कर देती हैं। जो व्यक्ति इन्द्रियों के दास हैं, उनकी तो बात ही क्या है, अर्थात् स्त्रियों के लिए उन्हें आकर्षित करना तो बहुत सरल है ।।१६।।(११३)

अनासक्त पुरुष के लिए स्त्री सदा सुख देने वाली होती है। उस जैसी दूसरी कोई भी घर के कार्यों में सहायक नहीं हो सकती ।।१७।।(११५)

अधिक सुरा का पान करते हुए बुद्धि नष्ट हो जाती है। परन्तु यदि उचित मात्रा से सुरा का पान किया जाए, तो सुरा प्रतिभा के देने वाली, बुद्धि को निर्मल करने वाली, धीरता को देने वाली तथा चित्त को स्थिर करने वाली होती है ।।१८।।(११६)

काम और क्रोध

काम तथा क्रोध भी सबसे बढ़कर मत्त करने वाले हैं। इन दोनों को उचित रीति से प्रयुक्त करना चाहिए।

प्रजा के उत्पादन तथा पालन में 'काम' का तथा शत्रु के विनाश में 'क्रोध' का उपयोग करना चाहिए ।।१९।।(११८)

राजा के लिए आवश्यक है कि उसे 'काम' का प्रयोग परस्त्री के संगम में नहीं करना चाहिए। दूसरे के धनों के प्रति 'लोभ' को रोके रखना चाहिए तथा अपनी प्रजा को दण्ड देने में 'क्रोध' का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।।२०।।(११९)

नीतिवाक्य

क्या कोई पर-स्त्री के संगम से गृहस्थ, अपनी प्रजा को दण्ड देने से शूर और दूसरों के धनों से धनी कहला सकता है ।।२१।।(१२०)

उच्छृङ्खलः शासकः

प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्नराष्ट्रो भवेत् सद्यो, भिन्नप्रकृतिरेव च ॥२२॥(४)

वैषम्यम्

पुरुषे पुरुषे भिन्नं, दृश्यते बुद्धिवैभवम्।
आप्तवाक्यैरनुभवैर्, आगमैरनुमानतः।
वैचित्र्यं व्यवहाराणाम्, औन्नत्यं गुरुलाघवैः ॥२३॥ (५)

सहायकापेक्षा

नहि तत्सकलं ज्ञातुं, नरेणैकेन शक्यते।
अतः सहायान् वरयेद्, राजा राज्यविवृद्धये ॥२४॥(७)

तृतीयोऽध्यायः

धर्मः

सुखार्थाः सर्वभूतानां, मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्, तस्माद् धर्मपरो भवेत् ॥२५॥(२)

पापम्

मनसा चिन्तयन् पापं, कर्मणा नाभिरोचयेत्।
तत्प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥२६॥(८)

समता

अवृत्ति-व्याधि-शोकार्तान्, अनुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत् सततं पश्येद्, अपि कीटपिपीलिकम् ॥२७॥(९)

अध्याय २

उच्छृङ्खल शासक

उच्छृङ्खल स्वामी सदा अनर्थ का ही भाजन बनता है। उसका राष्ट्र जल्दी टूट-फूट जाता है और उसकी प्रजाएँ उसके विरुद्ध हो जाती हैं ॥२२॥ (४)

विषमता

मनुष्यों में व्यवहार की विचित्रता, अपेक्षाकृत गुरुता तथा लघुता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से बुद्धि का वैभव दिखाई देता है। इनमें कारण हैं—विद्वानों के वचनों पर श्रद्धा, अपने-अपने अनुभव, अपने-अपने अनुमान तथा अपने-अपने शास्त्र ॥२३॥ (५)

सहायक की आवश्यकता

एक ही मनुष्य सभी-कुछ जानने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः राज्य की समृद्धि के लिए सहायकों को अपने पास रखना राजा के लिए उचित है ॥२४॥ (७)

अध्याय ३

धर्म

सुख-प्राप्ति के लिए ही सभी मनुष्यों की प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। सुख धर्म के बिना नहीं मिलता है, अतः धार्मिक बनना आवश्यक है ॥२५॥ (२)

पाप

यदि कभी मन में पाप का विचार आए, तो उस पाप को आचरण में नहीं लाना चाहिए। धर्म के वेत्ता कहते हैं कि जब कोई कर्म किया जाए, तभी उसका फल मिलता है* ॥२६॥ (८)

समता

बेरोज़गारी, रोग और शोक से पीडित प्राणियों का शक्ति के अनुसार साथ देना चाहिए, अर्थात् उनकी सहायता करनी चाहिए। क्षुद्र से क्षुद्र चिऊँटी तक के प्राणियों को भी अपने समान चेतन समझना चाहिए ॥२७॥ (९)

---

*अच्छा तो यही है कि मन से भी पाप का चिन्तन नहीं करना चाहिए।

उपकारप्रधानः स्याद्, अपकारपरेऽप्यरौ।

सम्पद्विपत्स्वेकमना, हेतावीर्षेत् फले न तु॥२८॥(१०)

भाषणम्

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।
पूर्वाभिभाषी सुमुखः, सुशीलः करुणः मृदुः॥२९॥(११)

गोप्यम्

न कश्चिदात्मनः शत्रुं, नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्।
प्रकाशयेन्नापमानं, न च निःस्नेहतां प्रभोः॥३०॥(१३)

व्यवहारः

जनस्याशयमालक्ष्य, यो यथा परितुष्यति।
तं तथैवानुवर्तेत, पराराधनपण्डितः॥३१॥(१४)

इन्द्रियाणि

न पीडयेदिन्द्रियाणि, न चैतान्यति लालयेत्।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः॥३२॥(१५)

एणो गजः पतङ्गश्च, भृङ्गो मीनस्तु पञ्चमः।
शब्दस्पर्शरूपगन्धरसैरेते हताः खलु॥३३॥(१६)

यदि किसी ने अपकार भी किया हो, तो भी उस पर उपकार करने में अग्रसर रहना चाहिए। संपदा और विपदा में एक जैसा रहना चाहिए। कोई किस कारण से बड़ा बना है, उस कारण के प्रति तो ईर्ष्या करनी चाहिए, परन्तु उस व्यक्ति से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए ॥२८॥(१०)

भाषण

(अभिमान का परित्याग करके) पहले भाषण करने वाला, मुख पर सदा मुस्कराहट वाला, सुन्दर स्वभाव-संपन्न, दयायुक्त और सरल होना चाहिए। और समय पर हितकारी तथा परिमित, सुसंगत तथा मधुर भाषण करना चाहिए ॥२९॥(११)

गोपनीय

किसी के प्रति अपनी शत्रुता को, अपने प्रति किसी की शत्रुता को, अपने अपमान को और स्वामी के स्नेह-परित्याग को कभी प्रकाशित नहीं करना चाहिए ॥३०॥(१३)

व्यवहार

दूसरों को प्रसन्न करने की दक्षता प्राप्त करने वाले मनुष्य को उचित है कि जो मनुष्य जिस ढंग से प्रसन्न होता है, मनुष्य के उस आशय (ढंग) का ध्यान करते हुए उससे उसी प्रकार व्यवहार करे ॥३१॥(१४)

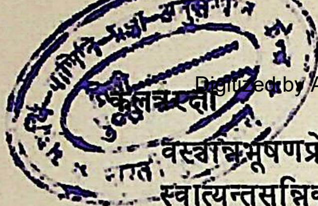
इन्द्रिय

(पाँच) ज्ञानेन्द्रियों तथा (पाँच) कर्मेन्द्रियों को पीडित नहीं करना चाहिए और न ही विषयों में इन्हें अनुरञ्जित करना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियाँ प्रमथन करने वाली हैं और वे मन को अपनी ओर खींच लेती हैं ॥३२॥(१५)

मृग, हाथी, पतङ्गा, भौंरा और पांचवीं मछली ये सभी (क्रमशः) शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस—इन विषयों से नष्ट हो जाते हैं* ॥३३॥(१६)

---

*वंशी के मधुर शब्द से मृग जाल में फंस जाता है, स्वभाव से कामुक हाथी हथिनी के स्पर्श (द्वारा) से पकड़ा जाता है, रूप पर आसक्त पतङ्गा ज्योति में गिरकर जल जाता है, गन्ध का लोभी भौरा खिले कमल पर बैठा हुआ कमल के बंद हो जाने के समय को भूल जाता है और उस कमल में बन्दी बन जाता है, स्वाद (रस) के लोभ में फंसी मछली मांस लगी कुण्डी को निगल कर मछुए के हाथ में पड़ जाती है।



कुलवन्ता

वस्त्रान्नभूषणप्रेममृदुवाग्भिश्च शक्तितः ।
स्वात्यन्तसन्निकर्षेण, स्त्रियं पुत्रं च रक्षयेत् ।।३४।।(२३)

सदाचारः

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां, नाग्निं छन्नमभिव्रजेत् ।
संदिग्धनावं वृक्षं च, नारोहेयेद् दुष्टयानकम् ।।३५।।(२५)

नासिकां न विकृष्णीयात्, नाकस्माद् विलिखेद् भुवम् ।
न संहताभ्यां पाणिभ्यां, कण्डूयेदात्मनः शिरः ।।३६।।(२६)

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।
अनुकुर्यात्तमेवातो, लौकिकार्थे परीक्षकः ।।३७।।(३२)

राज-देश-कुल-ज्ञाति-सद्धर्मान् नैव दूषयेत् ।
शक्तोऽपि लौकिकाचारं, मनसापि न लङ्घयेत् ।।३८।।(३३)

अयुक्तं यत्कृतं, चोक्तं न बलाद्धेतुनोद्धरेत् ।
लोकतः शास्त्रतो ज्ञात्वा, ह्यतस्त्याज्यांस्त्यजेत् सुधीः ।
अनयं नयसंकाशं मनसापि न चिन्तयेत् ।।३९।।(३५)

अयं सहस्रापराधी, किमेकेन भवेन्मम ।
मत्वा नाघं स्मरेदीषद्, विन्दुना पूर्यते घटः ।।४०।।(३६)

स्त्री तथा पुत्र को इन साधनों से अपने अनुकूल बनाना चाहिए—वस्त्र, अन्न और भूषण देना, प्रेम, शक्ति के अनुसार कोमल मधुर वाणी और सामीप्य भाव ।।३४।। (२३)

सदाचार

(साधारण मनुष्य को) नदी को भुजाओं से पार नहीं करना चाहिए, ढकी हुई अग्नि पर चलना उचित नहीं, संदेह वाली नौका पर तथा वृक्ष पर न चढ़ना, तथा दुष्ट सवारी नहीं करनी चाहिए ।।३५।। (२५)

नासिकाओं को सदा खुजलाना, बिना कारण भूमि को हाथों से कुरेदना और इकट्ठे दोनों हाथों से अपने सिर को खुजलाना नहीं चाहिए। (ये बातें सभ्यता-विरुद्ध हैं) ।।३६।। (२६)

बुद्धिमान् पुरुष के लिए सभी व्यवहारों में समाजस्थ जन ही गुरु होता है। अतः विवेचक पुरुष को समाज-सम्बन्धी व्यवहार में उसी का अनुकरण करना चाहिए ।।३७।। (३२)

राज सद्धर्म, देश सद्धर्म, कुल सद्धर्म और जाति सद्धर्मों को कभी भी दूषित नहीं करना चाहिए, अर्थात् आदर बुद्धि से सदा इनका पालन करना चाहिए। (धन तथा बल से) समर्थ होते हुए भी लौकिक व्यवहारों का मन से भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।।३८।। (३३)

जो बात अनुचित हो गई है या कही गई है, उसको तर्क-बल से उचित सिद्ध नहीं करना चाहिए। शास्त्र तथा लोकव्यवहार से ठीक जानकर बुद्धिमान् को त्याज्य का परित्याग कर देना चाहिए। जो अन्याय न्याय-सरीखा प्रतीत हो रहा है, उसका मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए ।।३९।। (३५)

इस अपराधी ने हजारों अपराध किए हैं। मेरे एक (छोटे-से) अपराध को कर लेने से क्या हानि होगी, यह विचार करते हुए पाप को छोटा नहीं समझना चाहिए* क्योंकि छोटी-छोटी बूंद पड़ने से (अन्ततः) घड़ा भर जाता है ।।४०।। (३६)

---

*पाप को छोटा समझ कर मनुष्य पुनः पुनः उसे करने लग जाता है। उसी के निषेध के लिए छोटी-छोटी बूँदों से घड़ा भर जाने की उपमा दी है।

नोपेक्षेत रिपुं व्याधिं बालं, रोगं दासं पशुं धनम् ।
विद्याभ्यासं क्षणमपि, सत्सेवां बुद्धिमान्नरः ॥४१॥ (४२)

दुर्भाग्यम्

माता न पालयेद् बाल्ये, पिता साधु न शिक्षयेत् ।
राजा यदि हरेद् वित्तं, का तत्र परिदेवना ॥४२॥ (४७)

सुसेविताः प्रकुप्यन्ति, मित्र-स्वजन-पार्थिवाः ।
गृहमग्न्यशनिहतं, का तत्र परिदेवना ॥४३॥ (४८)

आप्तवाक्यमनादृत्य, दर्पेणाचरितं यदि ।
फलितं विपरीतं तत्, का तत्र परिदेवना ॥४४॥ (४९)

नीतिवाक्यम्

स्वजनैर्न विरुध्येत, न स्पर्धेत बलीयसा ।
न कुर्यात् स्त्रीबालवृद्धमूर्खेषु च विवादनम् ॥४५॥ (५२)

एकः स्वादु न भुञ्जीत, एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं, नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥४६॥ (५३)

षड्दोषा पुरुषेणेह, हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध, आलस्यं दीर्घसूत्रता ।
प्रभवन्ति विघाताय, कार्यस्यैते न संशयः ॥४७॥ (५५)

बुद्धिमान् को इन निम्नोक्त की ओर से उपेक्षावृत्ति नहीं रखनी चाहिए—स्त्री और बालक (की रक्षा), रोग, सेवक, पशु, धन, विद्या का अभ्यास और सज्जनों की सेवा। इनमें उपेक्षा करने से हानि ही होती है ॥४१॥ (४२)

दुर्भाग्य

यदि बालावस्था में माता बच्चे की पालना नहीं करती, पिता उसकी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करता, यदि शासक ही धन का अपहरण कर लेता है, तो इस विषय में रोने से क्या लाभ है ? अर्थात् उसका सहायक कोई नहीं बन सकता ॥४२॥(४७)

मित्र, सम्बन्धी और शासक—भली प्रकार सेवा किए हुए भी यदि कोप करते हैं, अर्थात् पीडा पहुँचाते हैं, और यदि आग तथा बिजली घर का सर्वनाश कर दे, तो इन बातों के होने पर रोने का क्या लाभ है ? अर्थात् जब ये ही नाश करने वाले हैं, तो सहायक कौन हो सकता है ? ॥४३॥(४८)

अनुभवी विद्वानों की सम्मति का अनादर करके यदि किसी ने अभिमान से कार्य किया है और उस कार्य का परिणाम विपरीत निकला है, तो इन बातों में रोने से क्या लाभ ? (क्योंकि उसने अपने पैर पर आप कुल्हाड़ी मारी है) ॥४४॥ (४९)

नीतिवाक्य

स्व-सम्बन्धियों से विरोध नहीं करना चाहिए, बलवान् से स्पर्धा करनी उचित नहीं, स्त्री, बालक, वृद्ध और मूर्खों से विवाद नहीं करना चाहिए ॥४५॥(५२)

स्वादु भोजन अकेले नहीं खाना चाहिए, विचार योग्य बातों को अकेले चिन्तन नहीं करना चाहिए, यात्रा (पदयात्रा) में अकेले नहीं जाना चाहिए और सोए हुओं में अकेले को जागना उचित नहीं ॥४६॥ (५३)

*सुख की कामना वाले पुरुष को इन छः दोषों का परित्याग कर देना चाहिए—१. आवश्यकता से अधिक नींद, २. अनुत्साह, ३. भय, ४. क्रोध, ५. आलस तथा ६. काम को लटकाने की भावना। ये उपर्युक्त दोष आरम्भ किए हुए कार्य का नाश कर देते हैं ॥४७॥ (५५)

---

*विदुर-नीति ३३, ८३।

चिरं संस्तुतमाप्तत्वं, जानीयात् क्षिप्रमेव च ।
विज्ञाय प्रभजेदर्थान्, न कामं प्रभजेत् क्वचित् ।।४८।। (५७)

क्रयविक्रयातिलिप्सां, स्वदैन्यं दर्शयेन्नहि ।
कार्यं विनान्यगेहे, नाज्ञातः प्रविशेदपि ।।४९।। (५८)

अपृष्टो नैव कथयेद्, गृहकृत्यं तु कं प्रति ।
बह्वार्थाल्पाक्षरं कुर्यात्, संल्लापं कार्यसाधकम् ।।५०।। (५९)

न दर्शयेत् स्वाभिमतम्, अनुभूताद् विना सदा ।
ज्ञात्वा परमतं सम्यक्, तु नाज्ञातोत्तरं वदेत् ।।५१।। (६०)

दम्पत्योः कलहे साक्ष्यं, न कुर्यात् पितृपुत्रयोः ।
सुगुप्तकृत्यमंत्रः स्यात्, न त्यजेच्छरणागतम् ।।५२।। (६१)

यथाशक्ति चिकीर्षेत, कुर्वन् मुह्येच्च नापदि ।
कस्यचिन्न स्पृशेन्मर्म, मिथ्यावादं न कस्यचित् ।
नाश्लीलं कीर्तयेत् कञ्चित्, प्रलापं न च कारयेत् ।।५३।। (६२)

अस्वर्ग्यं स्याद् धर्म्यमपि, लोकविद्वेषितं तु यत् ।
स्वहेतुभिर्न हन्येत, कस्य वाक्यं कदाचन ।।५४।। (६४)

सदा देर तक सुनना चाहिए, परन्तु सुने हुए को जल्दी जान लेना चाहिए। जान करके, अर्थात् उसे ठीक समझ कर उस पर आचरण करना चाहिए। कभी भी (ऊपर कहे हुए ढंग से विपरीत) काम—इच्छा के वश में होकर किसी का ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥४८॥(५७)

पदार्थ को खरीदने और बेचने में अधिक उत्कण्ठा और अधीरता (उतावली) नहीं दिखानी चाहिए। बिना कार्य के, तथा पहिचान के बिना किसी के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए ॥४९॥(५८)

बिना पूछे किसी को अपने घर का काम नहीं कहना चाहिए। वार्तालाप इस ढंग से करना चाहिए, जो कि परिमित हो, परन्तु अर्थ में प्रचुरता रखता हो, तथा वह कार्य के सिद्ध कराने वाला हो ॥५०॥(५९)

बिना स्वयं आचरण किए, अर्थात् बिना अनुभव किए अपने विचार को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। दूसरे के विचार को भली प्रकार जानकर उत्तर में वह नहीं कहना चाहिए, जो उसे ज्ञात नहीं ॥५१॥ (६०)

पति-पत्नी के तथा पिता-पुत्र के झगड़े में साक्षी नहीं बनना चाहिए। कर्त्तव्य कर्म-सम्बन्धी विचार को सुगुप्त रखना चाहिए और शरणागत का परित्याग नहीं करना चाहिए ॥५२॥(६१)

अपनी शक्ति के अनुसार ही इच्छा करनी चाहिए। करते हुए यदि विपदा-ग्रस्त हो जाए, तो मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए। किसी की दुखती रग को छूना नहीं चाहिए, किसी के मिथ्या अपवाद का बखान नहीं करना चाहिए। अश्लील (असभ्य) वार्तालाप नहीं करना चाहिए तथा अनर्थक बातों को न कहना और न ही कहलाना उचित है ॥५३॥ (६२)

लोक जिससे विद्वेष करता है, वह बात चाहे करने योग्य भी है, तो भी सुख का कारण नहीं होती।

किसी के कथन का, अपनी दलीलबाज़ी से खण्डन नहीं करना चाहिए ॥५४॥(६४)

प्रविचार्योत्तरं देयं, सहसा न वदेत् क्वचित् ।
शत्रोरपि गुणा ग्राह्या, गुरोस्त्याज्यास्तु दुर्गुणाः ।।५५।।(६५)

संसारचक्रम्

उत्कर्षो नैव नित्यः स्यात् नापकर्षस्तथैव च ।
प्राक्कर्मवशतो नित्यं: सधनो निर्धनो भवेत् ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु, मैत्रीं नैव च हापयेत् ।।५६।।(६६)

नराणां पञ्चविधता

दीर्घदर्शी सदा च स्यात्, प्रत्युत्पन्नमतिः क्वचित् ।
साहसी, सालसी चैव, चिरकारी भवेन्नहि ।।५७।।(६८)

दीर्घदर्शी

यः सुदुर्निष्फलं कर्म, ज्ञात्वा कर्तुं व्यवस्यति ।
प्रागादौ दीर्घदर्शी स्यात्, स चिरं सुखमश्नुते ।।५८।।(६९)

प्रत्युत्पन्नमतिः

प्रत्युत्पन्नमतिः प्राप्तां, क्रियां कर्तुं व्यवस्यति ।
सिद्धिः सांशयिकी तत्र, चापल्यात् कार्यगौरवात् ।।५९।।(७०)

अलसः

यतते नैव कालेऽपि, क्रियां कर्तुं च सालसः ।
न सिद्धिस्तस्य कुत्रापि, स नश्यति च सान्वयः ।।६०।।(७१)

झटपट नहीं बोल पड़ना चाहिए, परन्तु सोच-विचार करें उत्तर देना चाहिए। शत्रु के गुणों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए, परन्तु इस के विपरीत गुरु के दुर्गुणों का भी परित्याग करना आवश्यक है ॥५५॥ (६५)

संसारचक्र

न ही सदा उन्नति रहती है और न ही सदा अवनति रहती है। अपने पूर्वकृत कर्मों से ही मनुष्य सदा सधन या निर्धन बन जाता है। अतः प्राणिमात्र से मैत्री का त्याग नहीं करना चाहिए, अर्थात् सभी से मैत्री बनाई रखनी चाहिए ॥५६॥ (६६)

पांच प्रकार के मनुष्य

*दीर्घदर्शी सदा बने रहना चाहिए। *प्रत्युत्पन्नमति कभी-कभी होना चाहिए। *साहसी, आलसी और काम को लटकाने वाला कभी नहीं होना चाहिए ॥५७॥ (६८)

दीर्घदर्शी

जो आरम्भ में ही सभी कठिनाइयों को जानकर कार्य को आरम्भ करता है, उसका नाम 'दीर्घदर्शी' है और वह देर तक सुख भोगता है ॥५८॥ (६९)

प्रत्युत्पन्नमति

जब काम सिर पर आ पड़े, तो जो कार्य करने का ठीक निश्चय कर लेता है वह प्रत्युत्पन्नमति होता है। एक ओर तो कार्य का गौरव होता है और दूसरी ओर कार्य करने वाले की चपलता होती है, इन हेतुओं से कार्य सिद्धि में शंका रहती है ॥५९॥ (७०)

आलसी

आलसी पुरुष समय पर कार्य करने का यत्न नहीं करता, (अतः) उसकी सफलता कभी नहीं होती। वह वंश-सहित (साथियों सहित) नष्ट हो जाता है ॥६०॥ (७१)

---

* 'दीर्घदर्शी'—काम के सभी पक्षों को पहले ही देख लेने वाला।
'प्रत्युत्पन्नमति'—काम के सिर पर आ पड़ने पर सोचने वाला।
'साहसी'—बलात्कारी, शारीरिक बल के अभिमान से बिना सोचे-विचारे काम करने वाला।
'आलसी'—आलस से युक्त।
'चिरकारी'—काम को लटकाने वाला। इन पांचों के लक्षण आगे किए हैं।

साहसिकः

क्रियाफलमविज्ञाय यतते साहसी च सः ।
दुःखभागी भवत्येव, क्रियया तत्फलेन वा ।।६१।। (७२)

चिरकारी

महत्कालेनाल्पकर्म, चिरकारी करोति च ।
स शोचत्यल्पफलतो, दीर्घदर्शी भवेदतः ।।६२।। (७३)

सुफलं तु भवेत् कर्म, कदाचित् सहसा कृतम् ।
निष्फलं वापि प्रभवेत्, कदाचित् सुविचारितम् ।
तथापि नैव कुर्वीत सहसानर्थकारि तत् ।।६३।। (७५)

अकार्यनिषेधः

कदाचिदपि संजातम्, अकार्यादिष्टसाधनम् ।
यदनिष्टं तु सत्कार्यात्, नाकार्यप्रेरकं हि तत् ।।६४।। (७६)

मित्रमहिमा

भृत्यो भ्रातापि वा पुत्रः, पत्नी कुर्यान्न चैव यत् ।
विधास्यन्ति च मित्राणि, तत्कार्यमविशंकितम् ।।६५।। (७७)

यो हि मित्रमविज्ञाय, याथातथ्येन मन्दधीः ।
मित्रार्थे योजयत्येनं, तस्य सोऽर्थोऽवसीदति ।।६६।। (७८)

नहि मानसिको धर्मः, कस्यचिज्-ज्ञायतेऽञ्जसा ।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै, मित्रलब्धिर्वरा नृणाम् ।।६७।। (७९)

साहसी

साहसी कर्म के (शुभाशुभ) परिणाम को जाने बिना केवल पाशविक बल से काम करने का यत्न करता है। अतः, वह उस कर्म से अथवा उस कर्म के दुष्फल से दुःख का भागी होता है ॥६१॥ (७२)

देर से काम करने वाला

प्रत्येक कार्य में देर करने वाला (चिरकारी) अधिक समय लगाकर बड़ा थोड़ा कर्म करता है। और फल के परिमाण में कमी होने के कारण दुःखी होता है। अतः, दीर्घदर्शी बनना चाहिए, न कि साहसी, आलसी तथा चिरकारी ॥६२॥ (७३)

कभी-कभी पाशविक बल से भी हुआ कार्य सफल हो जाता है, और कभी-कभी अच्छी तरह विचार कर किया हुआ भी कार्य निष्फल हो जाता है—इन दोनों बातों को देखते हुए भी केवल पाशविक शक्ति से कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह अनर्थकारी ही होता है ॥६३॥ (७५)

कुकर्म का निषेध

कभी-कभी कुकर्म से भी इष्टसिद्धि हो जाती है और सत् कार्य से भी अनिष्ट हो जाता है, फिर भी वह सत्कार्योत्पन्न अनिष्ट असत्कार्य का प्रेरक नहीं होना चाहिए ॥६४॥ (७६)

मित्रमहिमा

नौकर, भाई, पुत्र और पत्नी भी जिस कार्य को नहीं कर सकते। मित्र उसी कार्य को निःशङ्क होकर कर देते हैं ॥६५॥ (७७)

जो मूर्ख व्यक्ति मित्र की ठीक-ठीक पहिचान न करके उस (अमित्र) को करने योग्य काम में लगाता है, उसका वह कार्य नष्ट हो जाता है ॥६६॥ (७८)

किसी का मानसिक भाव ठीक-ठीक रूप से जानना आसान नहीं है। अतः उसके जानने के लिए यत्न करना उचित है। मनुष्यों के लिए मित्र-प्राप्ति बहुत श्रेष्ठ है ॥६७॥ (७९)

उग्रतायां तथा कटुतायां दोषः

कदापि नोग्रदण्डः स्यात्, कटुभाषणतत्परः।
भार्या पुत्रोऽप्युद्विजते, कटवाक्यात् प्रदण्डतः।
पशवोऽपि वशं यान्ति, दानैश्च मृदुभाषणैः ॥६८॥ (८६)

विविधाभिमाननिषेधः

न विद्यया, न शौर्येण, धनेनाभिजनेन च।
न बलेन प्रमत्तः स्यात् चातिमानी कदाचन ॥६९॥ (८७)

विद्याभिमानी

नाप्तोपदेशं संवेत्ति, विद्यामत्तः स्वहेतुभिः।
अनर्थमप्यभिप्रेतं, मन्यते परमार्थवत्।
महाजनैर्धृतः पन्था, येन संत्यज्यते बलात् ॥७०॥ (८८)

शस्त्राभिमानी

शौर्यमत्तस्तु सहसा, युद्धं कृत्वा जहात्यसून्।
व्यूहादियुद्धकौशल्यं, तिरस्कृत्य च शस्त्रवान् ॥७१॥ (८९)

धनाभिमानी

श्रीमत्तः पुरुषो वेत्ति, न दुष्कीर्तिमजो यथा।
स्वमूत्रगन्धं, मूत्रेण मुखमासिच्यते स्वकम् ॥७२॥ (९०)

कुलाभिमानी

तथाभिजनमत्तस्तु, सर्वानेवावमन्यते।
श्रेष्ठानपीतरान् सम्यग्, अकार्ये कुरुते मतिम् ॥७३॥ (९१)

बलाभिमानी

बलमत्तस्तु सहसा, युद्धे विदधते मनः।
बलेन बाधते सर्वान्, पश्वादीनपि ह्यन्यथा ॥७४॥ (९२)

उग्रता तथा कटुता में दोष

कभी भी कड़ा दण्ड देने वाला तथा कड़ुआ बोलने वाला नहीं होना चाहिए। उग्र दण्ड तथा कड़ुए वचन से स्त्री और पुत्र भी दुःखी हो जाते हैं। दान तथा मधुर भाषण से पशु भी वश में हो जाते हैं ।।६८।। (८६)

अनेक प्रकार के अभिमान का त्याग

विद्या, शूरता, धन, कुल और बल से अभिमानी नहीं होना चाहिए। अतिमान किसी भी अवस्था में ठीक नहीं ।।६९।। (८७)

विद्या का अभिमानी

विद्यामत्त (विद्या का अभिमानी) अपनी तर्कबुद्धि के आगे विद्वानों के वचनों को तुच्छ समझता है। और स्वमान्य अनर्थकारी बात को भी परम अर्थ से युक्त समझता है। वह महाजनों से अवलम्बित मार्ग को भी अपने विद्या-बल के कारण छोड़ देता है ।।७०।। (८८)

शस्त्राभिमानी

शौर्यमत्त—शूरता में अभिमान करने वाला शस्त्र पर ही आधार रखकर व्यूह आदि सम्बन्धी युद्ध-नीति का तिरस्कार कर देता है और बिना सोचे युद्ध करता हुआ अपने प्राणों का परित्याग कर देता है ।।७१।। (८९)

धन का अभिमानी

श्रीमत्त—धन का अभिमानी पुरुष अपनी दुष्कीर्ति का भी ध्यान नहीं करता, और उलटे काम करने लगता है। जैसे बकरा अपने मूत्र के दुर्गन्ध का विचार किए बिना उस अपवित्र दुर्गन्ध-भरे मूत्र से अपने मुख को गीला करता है ।।७२।। (९०)

कुलाभिमानी

अभिजनमत्त—सम्बन्धियों के अस्तित्व से अभिमानी पुरुष श्रेष्ठ तथा अन्य साधारण सभी व्यक्तियों का अपमान कर देता है तथा निन्दित कार्य करने में रुचि बना लेता है ।।७३।। (९१)

बलाभिमानी

बलमत्त—बलाभिमानी पुरुष शारीरिक लड़ाई में ही मन लगाता है। वह अपने बल से पशु आदि सभी को पीडा पहुँचाता है ।।७४।। (९२)

मानाभिमानी

मानमत्तो मन्यते स्म, तृणवच्चाखिलं जगत् ।
अनर्होऽपि सर्वेभ्यस्, त्वत्यर्घासनमिच्छति ।।
*मदा एतेऽवलिप्तानां सतामेते दमाः स्मृताः ।।७५।। (९४)

विद्यादीनां फलानि

विद्यायाश्च फलं ज्ञानं विनयश्च, फलं श्रियः ।
यज्ञदाने, बलफलं सद्रक्षणमुदाहृतम् ।।७६।। (९५)

नीतिवाक्यम्

परद्रव्यं क्षुद्रमपि, नादत्तं संहरेद्, अणु ।
नोच्चारयेदघं कस्य, स्त्रियं नैच च दूषयेत् ।।७७।। (९९)

भेदो न कार्यः

जायापत्योश्च, पित्रोश्च, भ्रात्रोश्च, स्वामिभृत्ययोः ।
भगिन्योर्मित्रयोर्भेदं, न कुर्याद् गुरुशिष्ययोः ।।७८।। (१०२)

सदाचारः

न मध्याद् गमनं भाषाशालिनोः स्थितयोरपि ।
सुहृदं भ्रातरं बन्धुम्, उपचर्यात् सदात्मवत् ।।७९।। (१०३)

सपुत्रस्तु गृहे कन्यां, सपुत्रां वासयेन्नहि ।
सभर्तृकां च भगिनीम्, अनाथे ते तु पालयेत् ।।८०।। (१०५)

याचकाद्यैः प्रार्थितः सन्, न तीक्ष्णं चोत्तरं वदेत् ।
तत्कार्यं तु समर्थश्चेत्, कुर्याद्वा कारयीत च ।।८१।। (१०८)

---

*विदुर नीति ३४,४४

मान का अभिमानी

मानमत्त—गर्वित मनुष्य सारे संसार को तिनके के समान तुच्छ समझता है। सभी से अयोग्य होता हुआ भी ऊँचा आसन चाहता है। पूर्व श्लोकों में जो मद गिनाए हैं—(विद्यामद, शूरतामद, धनमद, सम्बन्धीमद, बलमद और मानमद) वे मूर्खों के लिए मद हैं, परन्तु विद्वान् सज्जनों के लिए ये मद वश करने योग्य होते हैं ॥७५॥(९४)

विद्यादि के फल

विद्या का फल ज्ञान और सुशिक्षा है, धन का प्रयोजन, यज्ञ और दान है, बल का लाभ सज्जनों की रक्षा करना कहा है ॥७६॥(९५)

नीतिवाक्य

दूसरे का तुच्छ पदार्थ भी बिना दिए नहीं लेना चाहिए। किसी का किंचिन्मात्र भी दोष नहीं कहना चाहिए। स्त्री पर दोषारोपण करना उचित नहीं है ॥७७॥(९९)

फूट नहीं डालनी चाहिए

पति-पत्नी में, माता-पिता में, भाई-भाई में, स्वामी-नौकर में, बहिनों-बहिनों में, मित्रों-मित्रों में, गुरु-शिष्य में फूट डलवाने का यत्न नहीं करना चाहिए ॥७८॥(१०२)

सदाचार

खड़े हुए दो व्यक्ति परस्पर वार्तालाप कर रहे हों, तो उनके बीच में से गुज़रना उचित नहीं। मित्र, भाई और बन्धु से अपने समान व्यवहार करना उचित है ॥७९॥ (१०३)

यदि अपने घर में पुत्र हो, तो संतान वाली अपनी पुत्री को तथा पतियुक्त बहिन को घर में स्थिर वास नहीं देना चाहिए। उन दोनों के अनाथ हो जाने पर तो अवश्य उनकी अन्न, वास आदि से पालना करनी चाहिए ॥८०॥(१०५)

प्रार्थी यदि प्रार्थना करता है, तो उसे तीखा—कड़ुआ उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि आप उसका कार्य करने में समर्थ हैं, तो उसका कार्य कर देना चाहिए या करा देना चाहिए ॥८१॥(१०८)

दातॄणां धार्मिकानां च, शूराणां कीर्तनं सदा ।
शृणुयात्तु प्रयत्नेन, तच्छिद्रं नैव लक्षणेत् ॥८२॥(१०९)

काले हितमिताहारविहारी विघसाशनः ।
अदीनात्मा च सुस्वप्नः, शुचिः स्यात् सर्वदा नरः ॥८३॥(११०)

अन्नं न निन्द्यात्, सुस्वस्थः स्वीकुर्यात् प्रीतिभोजनम् ।
आहारं प्रवरं विद्यात्, षड्रसं मधुरोत्तरम् ॥८४॥(११२)

हित्वा प्राक्पश्चिमौ यामौ, निशि स्वापो वरो मतः ।
दीनान्धपंगुबधिरा, नोपहास्याः कदाचन ॥८५॥(११४)

नानिष्टं प्रवदेत् कस्मिन्, न छिद्रं कस्य लक्षयेत् ।
आज्ञाभङ्गस्तु महतां, राज्ञः कार्यो न वै क्वचित् ॥८६॥(११७)

कुटुम्ब-पालनं प्रथमम्

कुटुम्बभरणार्थेषु, यत्नवान् न भवेच्च यः ।
तस्य सर्वगुणैः किन्नु, जीवन्नेव मृतश्च सः ॥८७॥(१२६)

हितोपदेशः

नेयात् कस्य वशं, तद्वत् स्वाधीनं कारयेज्जगत् ।
राजा मित्रमिति ज्ञात्वा, न कार्यं मानसेप्सितम् ॥८८॥(१३६)

नेच्छेन्मूर्खस्य स्वामित्वं, दास्यम्, नेच्छेन्महात्मनाम् ।
विरोधं, न ज्ञानलवदुर्विदग्धस्य रञ्जनम् ॥८९॥(१४७)

दाता पुरुषों का, धार्मिकों का तथा शूरों का गुण-कीर्तन सुनने में यत्न करना चाहिए। इन उपर्युक्त लोगों के दोषों को नहीं देखना चाहिए ॥८२॥(१०९)

मनुष्य को सदा समय पर हितकारी परिमित आहार तथा विहार करना चाहिए। सभी को खिला कर खाना चाहिए। दीनता के भाव का परित्यागी, पवित्र और अच्छी नींद सोने वाला होना चाहिए ॥८३॥(११०)

अन्न की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए; स्वस्थ होने पर ही प्रीतिभोजन को स्वीकार करना चाहिए, (सामने पड़े) अन्न को षड् रसों से युक्त, मधुर तथा श्रेष्ठ जानना चाहिए ॥८४॥(११२)

रात के पहले पहर तथा अन्तिम पहर को छोड़ कर ही सोना उत्तम माना गया है। दीन, अन्धे, लूले, बहरे आदि अङ्गहीन की हँसी कभी नहीं करनी चाहिए ॥८५॥ (११४)

किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में दुर्वचन नहीं कहना चाहिए। किसी के दोष पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। महाजनों की आज्ञा का भङ्ग तथा (विशेष रूप से) राजा की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए ॥८६॥(११७)

कुटुम्ब की पालना

जो (गृहस्थ) परिवार के पालन-पोषण के लिए यत्न नहीं करता है, उसमें यदि सभी गुण भी हों, तो भी उन गुणों से कोई प्रयोजन नहीं। वह ज़ीता हुआ मृतक है ॥८७॥(१२६)

हितोपदेश

किसी के वश अर्थात् दासता में नहीं रहना चाहिए, सभी को स्वतन्त्र बनाने का यत्न करना चाहिए। राजा मेरा मित्र है, यह जानकर, मनमानी नहीं करनी चाहिए ॥८८॥ (१३६)

मूर्ख (दुष्ट) का मालिक अथवा नौकर बनने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। महात्मा जनों के विरोध की तथा अल्पज्ञानियों को प्रसन्न करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए ॥८९॥(१४७)

कूटव्यवहारनिन्दा

कूटेन व्यवहारं तु, वृत्तिलोपं न कस्यचित् ।
न कुर्यात्, चिन्तयेत् कस्य मनसाऽप्यहितं क्वचित् ।।९०।। (१५५)

कुत्र पत्नीवाक्यस्योपेक्षा

न प्रियाकथितं सम्यङ्, मन्येतानुभवं विना ।
अपराधं मातृ-स्नुषा-भ्रातृपत्नी-सपत्निजम् ।।९१।। (१६३)

विवाहे कैः किं वरणीयम्

कन्या वरयते रूपं, माता वित्तं, पिता श्रुतम् ।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति, मिष्टान्नमितरे जनाः ।।९२।। (१७२)

कुत्र क्षण-कणोपादेयता

क्षणशः कणशश्चैव, विद्यामर्थं च साधयेत् ।
न त्याज्यौ क्षणकणौ, नित्यं विद्याधनार्थिना ।।९३।। (१७४)

धनोपार्जनस्य प्रयोजनम्

सुभार्या पुत्रमित्रार्थं, हितं नित्यं धनार्जनम् ।
दानार्थं च, विना त्वेतैः, किं धनैश्च जनैश्च किम् ।।९४।। (१७५)

कूट व्यवहार की निन्दा

कपटपूर्ण व्यवहार तथा किसी की जीविका का नाश कभी नहीं करना चाहिए। किसी के अनिष्ट का मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिए ।।९०।। (१५५)

पत्नी के वचनों की कहां उपेक्षा करनी चाहिए

माता, वधू, भरजाई और सौतेली संतान के दोष को यदि पत्नी कहे, तो उसे परीक्षा किए बिना नहीं मानना चाहिए ।।९१।। (१६३)

विवाह में कोई क्या चाहते हैं

कन्या वर के रूप को पसन्द करती है, माता वर को धनवान् चाहती है, पिता वर की विद्वत्ता को चाहता है, बन्धुजन वर के ऊँचे कुल को पसन्द करते हैं और शेष जन विवाह के समय होने वाले मिष्टान्न में रुचि रखते हैं ।।९२।। (१७२)

क्षण-कण की उपादेयता

विद्या-उपार्जन के समय क्षण-क्षण का और धनोपार्जन के समय कण-कण का ध्यान करना चाहिए। विद्या तथा धन के अभिलाषी मनुष्य को सदा एक-एक क्षण तथा एक-एक कण का (उपेक्षा से) परित्याग नहीं करना चाहिए।

इस श्लोक का यह भी अर्थ हो सकता है—

विद्यारूपी धन की सिद्धि के लिए एक-एक क्षण के समय का तथा थोड़े-थोड़े से भी ज्ञान की प्राप्ति का ध्यान करना चाहिए। विद्यारूपी धन के अभिलाषी को क्षण भर के समय का तथा कहीं से भी अल्पज्ञान (कण) की प्राप्ति का परित्याग नहीं करना चाहिए ।।९३।। (१७४)

धनोपार्जन का प्रयोजन

पत्नी और सन्तान के पालन-पोषण के लिए, मित्र की सहायता के लिए और दान के लिए धनोपार्जन सदा हितकर है। इन प्रयोजनों के बिना धन का तथा धन से प्राप्त भृत्यवर्ग का कोई प्रयोजन नहीं है ।।९४।। (१७५)

विद्याधनम्

भाविसंरक्षणक्षमं, धनं यत्नेन रक्षयेत् ।
जीवामि शतवर्षं तु, नन्दामि च धनेन वै ।।
इति बुद्ध्या संचिनुयाद्, धनं विद्यादिकं सदा ।
पञ्चविंशत्यब्दपूरं, तदर्धं वा तदर्धकम् ।।९५,९६।। (१७६, १७७)

विद्याधनं श्रेष्ठतरं, तन्मूलमितरद्धनम् ।
दानेन वर्धते नित्यं, न भाराय, न नीयते ।।९७।। (१७८)

मैत्रीस्थैर्ये कारणम्

यस्येच्छेदुत्तमां मैत्रीं, कुर्यान्नार्थाभिलाषकम् ।
परोक्षे तद्रहश्चारं, तत्स्त्रीसंभाषणं तथा ।।
तन्न्यूनदर्शनं नैव, तत्प्रतीपविवादनम् ।
असहायं च तत्कार्ये, ह्यनिष्टोपेक्षणं न च ।।९८,९९।।
(१९९,२००)

सकुसीदमकुसीदं, धनं यच्चौत्तमर्णिकम् ।
दद्यादगृहीतमिव, नोभयोः क्लेशकृद् यथा ।
नासाक्षिमच्चालिखितं, ऋणपत्रस्य पृष्ठतः ।।१००।। (२०२)

दान-धर्मयोर्महत्त्वम्

अदत्त्वा यत् किञ्चिदपि, न नयेद् दिवसं बुधः ।
स्थितो मृत्युमुखे चाहं, क्षणमायुर्ममास्ति न ।
इति मत्वा दानधर्मौ, यथेष्टौ तु समाचरेत् ।।१०१।। (२०६)

अतिकरणे दोषः

नातिवादं नातिकार्यासक्तिमत्याग्रहं न च ।
अतिसर्वं नाशहेतुर्, ह्यतोऽत्यन्तं वर्जयेत् ।।१०२।। (२१७)

उत्तर काल में रक्षा के योग्य विद्या-धन की रक्षा करनी चाहिए। मैं सौ वर्ष तक जीता रहूँगा, और (विद्या) धन से प्रसन्न रहूँगा— इस विचार से विद्या तथा धन का उपार्जन पच्चीस वर्ष तक अथवा साढ़े बारह वर्ष तक अथवा सवा छः वर्ष तक अवश्य करना चाहिए ॥९५,९६॥ (१७६,१७७)

विद्या-धन सभी धनों से श्रेष्ठ है, शेष धनों का मूलभूत यह विद्या-धन है। सदा दान से यह बढ़ता है। इसके उठाने में भी कोई भार नहीं और न ही कोई इसे अपहरण कर पाता है ॥९७॥ (१७८)

मैत्री की स्थिरता में कारण

जिस सुहृद् के साथ प्रगाढ मैत्री स्थिर रखना अभीष्ट हो, उससे कभी धन की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। उसके परोक्ष में गुप्त भेदों को जानने का यत्न तथा उसकी स्त्री से संभाषण नहीं करना चाहिए।

उसकी न्यूनता को देखना, उसके विपरीत बोलना, उसके कार्य में सहायता न देना तथा अनिष्ट के समय उपेक्षा—ये सभी कुछ नहीं करना चाहिए ॥९८,९९॥ (१९९,२००)

मित्र को धन की सहायता नीचे लिखे भाव से करनी उचित है—

ब्याज-सहित या बिना ब्याज ऋणरूपी धन इस प्रकार देना चाहिए जैसा कि दोनों को क्लेश देने वाला न हो। साक्षी से युक्त लिखा हुआ हो, तो भी उस ऋणपत्र के पीछे न लिखे हुए के समान लिखकर धन देना चाहिए ॥१००॥ (२०२)

दान और धर्म की महिमा

मैं मृत्यु के मुख में पड़ा हूँ, मेरी आयु क्षण-भर के लिए भी नहीं, ऐसा विचार करते हुए बुद्धिमान् का कोई भी दिन दान एवं धर्म कार्य किए बिना नहीं गुजरना चाहिए। उसे दान तथा धर्म का सदा आचरण करना चाहिए ॥१०१॥ (२०६)

अति में दोष

बहुत बोलने, बहुत काम में फंस जाने तथा अत्युग्र हठ का परित्याग कर देना चाहिए। 'अति' नाश का कारण है, इसलिए 'अति' का परित्याग करना ही उचित है ॥१०२॥ (२१७)

ह्यधिकोऽस्मीति सर्वेभ्यो, ह्यधिकज्ञानवानहम् ।

धर्मतत्त्वमिदमिति, नैवं मन्येत बुद्धिमान् ॥१०३॥ (२२१)

तरुणी-धन-पुस्तकानां न्यासोऽनुचितः

पराधीनं नैव कुर्यात्, तरुणीधनपुस्तकम् ।
कृतं चेत्, लभ्यते दैवात्, भ्रष्टं नष्टं विमर्दितम् ॥१०४॥(२२५)

बुद्धिमतः कर्त्तव्यम्

बह्वर्थं न त्यजेदल्पहेतुना, अल्पं न साधयेत् ।
बह्वर्थव्ययतो, धीमान्, अभिमानेन वै क्वचित् ॥१०५॥ (२२६)

मित्रे वचनप्रकारः

लज्ज्यते च सुहृद् येन, भिद्यते दुर्मना भवेत् ।
वक्तव्यं न तथा किंचिद्, विनोदेऽपि च धीमता ॥१०६॥(२२८)

कैः सह वार्तालापो नोचितः

यस्मिन् सूक्तं दुरुक्तं च, समं स्याद् वा निरर्थकम् ।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो, बधिरेष्विव गायनः ॥१०७॥(२२९)

मित्र-परीक्षा

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे, यन्मित्रं नाभिपद्यते ।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं, न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥१०८॥(२३१)

उग्रवचन-निन्दा

आजन्मसेवितं दानैर्, मानैश्च परिपोषितम् ।
तीक्ष्णवाक्यान्मित्रमपि, तत्कालं याति शत्रुताम् ॥१०९॥(२३२)

बुद्धिमान् को ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए—"मैं सबसे बड़ा हूँ, मैं सबसे अधिक ज्ञानी हूँ, जो मैं कहता हूँ। यही धर्म का सार है" ॥१०३॥(२२१)

तरुणी, धन और पुस्तक के न्यास का निषेध

युवा स्त्री, धन और पुस्तक को किसी के अधीन नहीं करना चाहिए। यदि इन्हें दे दिया जाए, तो बड़े भाग्य से मिलती हैं, परन्तु यदि मिलती हैं तो तरुणी भ्रष्ट अवस्था में, धन (भूषणादि) टूटी-फूटी अवस्था में तथा पुस्तक कटी-फटी अवस्था में ॥१०४॥ (२२५)

बुद्धिमान् का कर्त्तव्य

बुद्धिमान् को कभी भी अभिमान से अत्यल्प कारण से अत्यधिक धन का परित्याग नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार अभिमानवश होकर अत्यधिक व्यय से अत्यल्प कार्य-सिद्धि को भी नहीं करना चाहिए ॥१०५॥(२२६)

मित्र की क्या बात नहीं कहनी चाहिए

बुद्धिमान् को विनोद में वैसा कुछ नहीं कहना चाहिए, जिससे मित्र को लज्जित होना पड़े तथा वह दुःखी होकर मित्रता से अलग हो जाए ॥१०६॥(२२८)

किन से बात नहीं कहनी चाहिए

बुद्धिमान् को उस मनुष्य के साथ किसी प्रकार की बात-चीत नहीं करनी चाहिए, अर्थात् उसे समझाना नहीं चाहिए, जिसमें सूक्तियाँ अर्थात् मधुर भाषण तथा कठोर भाषण एक जैसा और निष्प्रयोजन हो जाता है। जैसे गायक का बहरों के सामने गाना निरर्थक हो जाता है ॥१०७॥(२२९)

मित्र की परीक्षा

सम्बन्धियों की पारस्परिक फूट में जो मित्र प्रयत्नपूर्वक उदासीनता का अवलम्बन नहीं करता, बुद्धिमान् उसे मित्र नहीं कहते ॥१०८॥(२३१)

कठोर वचन की निन्दा

जन्म-भर सहायता करने तथा मान-आदर दिए जाने पर भी मित्र तीखे वचनों से तत्काल शत्रु बन जाता है ॥१०९॥(२३२)

कुत्र को गुण उचितः

अश्वे जवो, वृषे धौर्यं, मणौ कान्तिः, क्षमा नृपे ।
हावभावौ च वेश्यायां, गायके मधुरस्वरः ।।
दातृत्वं धनिके, शौर्यं सैनिके, बहुदुग्धता ।
गोषु, दमस्तपस्विषु, विद्वत्सु वावदूकता ।।
सभ्येष्वपक्षपातस्तु, तथा साक्षिषु सत्यवाक् ।
अनन्यभक्तिर्भृत्येषु, सुहितोक्तिश्च मंत्रिषु ।।
मौनं मूर्खेषु, स्त्रीषु पातिव्रत्यं सुभूषणम् ।
महादुर्भूषणं चैतद्, विपरीतममीषु च ।।११०-११३।।
(२३५-२३८)

सुखदं गृहम्

गृहं बहुकुटुम्बेन, दीपैर्भोगैः सुबालकैः ।
भात्येकनायकं नित्यं, न गृहं बहुनायकम् ।।११४।। (२३९)

खललक्षणम्

अन्योदयासहिष्णुश्च, छिद्रदर्शी विनिन्दकः ।
द्रोहशीलः स्वान्तमलः, प्रसन्नास्यः खलः स्मृतः ।।११५।। (२४७)

भवन्त्यन्योपदेशार्थे, धूर्ताः साधुसमाः सदा ।
स्वकार्यार्थं प्रकुर्वन्ति, ह्यकार्याणां शतं तु ते ।।११६।। (२५०)

सुखदायकः पुत्रः

पित्रोराज्ञां पालयति, सेवने च निरालसः ।
छायेव वर्तते नित्यं, यतते चागमाय वै ।।
कुशलः सर्वविद्यासु, स पुत्रः प्रीतिकारकः ।
दुःखदो विपरीतो यो, दुर्गुणो धननाशकः ।।११७,११८।।
(२५१,२५२)

कौन-सा गुण कहाँ उचित है

नीचे लिखे पदार्थों में कहे हुए गुण भूषण रूप से हैं, इसके विपरीत भाव दूषण रूप हैं —

घोड़े में वेग, बैल में जुआ उठाने की शक्ति, मणि में चमक, राजा में क्षमा, वेश्या में हाव-भाव, गायक में मधुर स्वर, धनी में दान का स्वभाव, सैनिक में वीरता, गौओं में दुग्ध-बाहुल्य, तपस्वियों में संयम, विद्वानों में वाणी की प्रगल्भता, न्यायाधिकारियों में पक्षपात का अभाव, साक्षियों में सचाई, सेवकों में अनन्य भक्ति, मंत्रियों में हित का कथन, मूर्खों में मौन, स्त्रियों में पातिव्रत्य—ये सब सुभूषण हैं। ऊपर कहे हुए पदार्थों में उन भावों के विपरीत भाव दुर्गुण कहे गए हैं ॥११०-११३॥(२३५-२३८)

सुखदायक घर

वही घर शोभा से युक्त होता है, जिसमें एक स्वामी हो, अर्थात् घर को ठीक दिशा में ले जाने वाला अनुभवी वृद्ध नेता हो; (और इसके साथ) घर के परिजन, दीप, भोग और सुशिक्षित संतान से युक्त घर शोभाशाली होता है। इसके विपरीत जिस घर में बहुत से नेता हों वह घर शोभा नहीं देता। भिन्न-भिन्न नेतृत्व के कारण परिवार के लोग एक दिशा में अग्रसर नहीं हो सकते ॥११४॥(२३९)

दुष्ट के लक्षण

दूसरे की प्रगति को न सहन करने के स्वभाव वाला, दोषों का द्रष्टा, सभी की निन्दा करने वाला, द्रोहबुद्धि, अन्तःमलिन, परन्तु प्रसन्न-मुख व्यक्ति 'दुष्ट' कहा गया है ॥११५॥(२४७)

धूर्त प्रायः दूसरों को उपदेश देने के लिए सन्तों के समान अपने आप को दिखाते हैं, परन्तु वे अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए सैकड़ों बुरे कर्मों को किया करते हैं ॥११६॥ (२५०)

सुखदायक पुत्र

जो माता-पिता की आज्ञा का पालन करता है, उद्यमशील बनकर उनकी सेवा में लगा रहता है; सदा छाया की भान्ति उनका अनुगमन करता है; धन तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता है; सभी विद्याओं में जो प्रवीण है, वह पुत्र माता-पिता की प्रीति करने वाला होता है। जो इसके विपरीत होता है, वह दुःखदायी, दुर्गुणी और धन का नाश करने वाला होता है ॥११७,११८॥ (२५१,२५२)

पत्नी

पत्यौ नित्यं चानुरक्ता, कुशला गृहकर्मणि ।
पुत्रप्रसूः सुशीला या, प्रिया पत्युः सुयौवना ।।११९।।(२५३)

माता

पुत्रापराधान् क्षमते, या पुत्रपरिपोषिणी ।
सा माता प्रीतिदा नित्यं, कुलटाऽन्यातिदुःखदा ।।१२०।।(२५४)

पिता

विद्यागमार्थं पुत्रस्य, वृत्त्यर्थं यतते च यः ।
पुत्रं सदा साधु शास्ति, प्रीतिकृत् स पिताऽनृणी ।।१२१।।(२५६)

मित्रम्

यः सहायं सदा कुर्यात्, प्रतीपं न वदेत् क्वचित् ।
सत्यं हितं वक्ति याति दत्ते गृह्णाति मित्रताम् ।।१२२।। (२५६)

मानहान्यै किं किं भवति

नीचस्यातिपरिचयो, ह्यन्यगेहे सदा गतिः ।
जातौ सङ्घे प्रातिकूल्यं, मानहान्यै दरिद्रता ।।१२३।।(२५७)

दुःखस्थानम्

दौर्मनस्यं च सुहृदां, सुप्राबल्यं रिपोः सदा ।
विद्वत्स्वपि च दारिद्र्यं, दारिद्र्ये बह्वपत्यता ।।१२४।।(२५९)

दुःखदो भर्ता

सुरूपः सधनः स्वामी, विद्वानपि बलाधिकः ।
न कामयेद् यथेष्टं यत्, स्त्रीणां नैव सुसौख्यकृत् ।।१२५।।(२६१)

पत्नी

सदा पति से प्रेम करने वाली, घर के कार्यों में दक्ष, संतान के उत्पादन में समर्थ, सुन्दर आचार से युक्त, सौभाग्य से सम्पन्न यौवन वाली पत्नी पति के लिए प्रीतिकारक होती है ।।११९।। (२५३)

माता

जो पुत्र के अपराधों को क्षमा कर देती है, जो पुत्र के पालन-पोषण के स्वभाव वाली है, वह माता सदा प्रीति के देने वाली है, इसके विपरीत दुःख देने वाली और कुलटा है ।।१२०।।(२५४)

पिता

जो पिता पुत्र की ज्ञान-प्राप्ति के लिए तथा उसे निर्वाह के योग्य बनाने के लिए यत्न करता है और पुत्र को सदा सन्मार्ग पर चलने के लिए अनुशासित करता है, वह पिता प्रीतिकारक है तथा अपने माता-पिता के ऋण से उन्मुक्त है ।।१२१।।(२५६)

मित्र

वही मित्रता का पात्र है, जो सदा सहायता करता है, विरुद्ध कभी नहीं कहता, सत्य और हितकर वचन बोलता है, जो आदान-प्रदान करता है ।।१२२।।(२५६)

क्या-क्या मानहानि के लिए होता है

१. नीच के साथ अधिक मेल-जोल, २. दूसरे के घर में नित्य जाना, ३. जाति तथा संघ में प्रतिकूलता (विरोध) और ४. दरिद्रता—ये सभी बातें मान-हानि के लिए होती हैं ।।१२३।। (२५७)

दुःखदायक बातें

मित्रों का विरोध, शत्रु की सदा स्थिर रहने वाली प्रबलता, विद्वानों की दरिद्रता और दरिद्रता होने पर संतान की अधिकता—ये सभी बातें दुःख देने वाली हैं ।।१२४।।(२५९)

दुःखदायक भर्ता

भर्ता सुन्दर, धनवान्, विद्वान् और बलवान् भी क्यों न हो, यदि वह स्त्री से प्रणय नहीं करता, तो वह स्त्रियों के लिए सुखदायक नहीं होता ।।१२५।।(२६१)

सुखदो मतः

यो यथेष्टं कामयते, स्त्री तस्य वशगा भवेत्।
संधारणाल्लालनाच्चैव यथा याति वशं शिशुः ॥१२६॥(२६२)

कः किमिच्छति

निर्जनत्वं मधुरभुग्, जारश्चौरः सदेच्छति।
साहाय्यं तु बलिद्विष्टो, वेश्या धनिकमित्रताम् ॥१२७॥
(२६६)

कुनृपश्च छलं नित्यं, स्वामिद्रव्यं कुसेवकः।
तत्त्वं तु ज्ञानवान्, दम्भं तपोऽग्नि देवजीवकः ॥१२८॥(२६७)

मूर्खलक्षणम्

चण्डायते विवदते, स्वपित्यश्नाति मादकम्।
करोति निष्फलं कर्म, मूर्खो वा स्वेष्टनाशनम् ॥१२९॥(२६९)

सुखकरं दुःखकरं च किम्

आदौ वरं निर्धनत्वं, धनिकत्वमनन्तरम्।
तथादौ पादगमनं, यानगत्वमनन्तरम्।
सुखाय कल्पते नित्यं, दुःखाय विपरीतकम् ॥१३०॥(२८२)

किं वरम्

वरं देशाच्छादनतः, चर्मणा पादगूहनम्।
ज्ञानलवदौर्विदग्ध्याद् अज्ञता प्रवरा मता ॥१३१॥(२८४)

जो स्त्री से प्रणय करता है, स्त्री उसके वश में हुआ करती है। जैसे पालन तथा प्यार से बच्चा वश में आ जाता है ।।१२६।। (२६२)

कौन क्या चाहता है ?

मधुर-मधुर रसों का लोभी, व्यभिचारी और चोर सदा एकान्त चाहते हैं। बलवान् से शत्रुता रखने वाला सदा सहायता की इच्छा करता है और वेश्या धनिकों की मित्रता की इच्छा करती है ।।१२७।। (२६६)

दुष्ट राजा सदा कपट करने की इच्छा करता है, दुष्ट सेवक सदा स्वामी के धन की इच्छा करता है, ज्ञानवान् सदा वास्तविकता को जानने की कामना करता है और पुजारी दम्भ, बाह्य तप और अग्नि अर्थात् यज्ञादि की कामना करता है ।।१२८।। (२६७)

मूर्ख का लक्षण

मूर्ख सदा उग्र बना रहता है, कलह करता है, अधिक सोता है, नशीले पदार्थ खाता है, निकम्मे काम करता है और अपने अभीष्ट का भी नाश कर लेता है ।।१२९।। (२६९)

सुखदायक और दुःखदायक

आदि अर्थात् युवा अवस्था में निर्धनता, अन्त अथवा वृद्धावस्था में धन का होना, आदि अर्थात् पूर्वोक्त युवा अवस्था में पद-यात्रा, अन्त अर्थात् वृद्धावस्था में सवारी से यातायात सदा सुख देने वाले होते हैं, परन्तु इसका उलटापन दुःख देने के लिए होता है* ।।१३०।। (२८२)

अच्छा क्या है ?

पृथिवी को चमड़े सें ढँकने की अपेक्षा पाँवों में जूता पहिन लेना अच्छा है। अल्प ज्ञान के अहंकार से मूर्खता को अच्छा कहा है ।।१३१।। (२८४)

---

*सुख-दुःख का चक्र चलता है, वे दोनों अवश्य प्राप्त होते हैं। अतः युवावस्था में निर्धनता होने से पुरुष पुरुषार्थ करके कमा सकता है, परन्तु वृद्धावस्था में उसके लिए असम्भव है। वृद्धावस्था में धन आवश्यक है।

इसी प्रकार शक्ति होने के कारण युवावस्था में पैदल चल सकता है। वृद्धावस्था में वह चल नहीं सकता, इसलिए उसे स्वारी की आवश्यकता होती है।

नीतिवाक्यम्

मार्गं निरुध्य न स्थेयं, समर्थेनापि कर्हिचित् ।
सद्यानेनापि गच्छेन्न, हट्टमार्गे नृपोऽपि च ॥१३२॥ (२९५)

शीघ्रं जराकारणम्

अत्यटनं चानशनम्, अतिमैथुनमेव च ।
अत्यायासश्च सर्वेषां, द्राग् जराकरणं महत् ।
अत्यायासो हि विद्यासु, जराकारी कलासु च ॥१३३॥ (२९८)

उत्तमः पुरुषः

स्वदुर्गुणश्रवणतो यस्तुष्यति न क्रुध्यति ।
स्वदोषस्य प्रविज्ञाने, यतते, त्यजति श्रुते ।
स्वगुणश्रवणान्नित्यं समस्तिष्ठति नाधिकः ॥१३४॥ (३०४)

अपृष्टो न ब्रूयात्

यथार्थमपि विज्ञातम्, उभयोर्वादिनोर्मतम् ।
अनियुक्तो न वै ब्रूयाद्, हीनः शत्रुर्भवेदतः ॥१३५॥ (३१८)

सज्जनखलयोः स्वभावः

सदाऽल्पमप्युपकृतं, महत् साधुषु जायते ।
मन्यते सर्षपादल्पं, महच्चोपकृतं खलः ॥१३६॥ (३१९)

हितोपदेशः

तथा न क्रीडयेत् कैश्चित्, कलहाय भवेद् यथा ।
विनोदेऽपि वदेन्नैवं, ते भार्या कुलटास्ति किम् ॥१३७॥ (३०९)

सामर्थ्यवान् को कभी मार्ग रोककर नहीं खड़ा होना चाहिए। राजा को भी उचित है कि उसे बाज़ार में कभी अच्छी सवारी से भी नहीं जाना चाहिए* ॥१३२॥ (२९५)

जल्दी बुढापा आने में कारण

बहुत घूमना, बहुत खाना, अधिक संभोग और अत्यधिक परिश्रम जल्दी बुढ़ापा लाने वाले हैं, इसी प्रकार सभी विद्याओं और कलाओं में अत्यधिक परिश्रम भी जल्द बुढापा लाता है ॥१३३॥ (२९८)

उत्तम पुरुष

वह उत्तम है, जो अपने दुर्गुण सुनकर क्रोध नहीं करता, प्रत्युत प्रसन्न होता है। अपने दोष के जानने के लिए यत्न करता है और सुन लेने पर उसे छोड़ देता है। अपने गुणों के श्रवण करने से वैसा ही बना रहता है, फूलता नहीं ॥१३४॥ (३०४)

विना पूछे न बोले

दोनों वादियों (अभियुक्त तथा अभियोक्ता) की यथार्थता को जानता हुआ भी जब तक न्याधिकारी उसे न पूछे, उसे कुछ नहीं कहना चाहिए। क्योंकि दोनों में से जो कोई हीन अर्थात् दोषी होगा, वही शत्रु बन जाएगा ॥१३५॥ (३१८)

सज्जन और दुष्ट का स्वभाव

थोड़ा-सा भी किया हुआ उपकार सन्त जनों के लिए महान् हो जाता है। दुष्ट मनुष्य अपने पर किए बड़े भारी उपकार को भी सरसों के दाने से तुच्छ समझता है ॥१३६॥ (३०६)

हितोपदेश

किसी के साथ ऐसी खिलवाड़ नहीं करनी चाहिए, जो झगड़े का कारण बन जाए। किसी से विनोद करते हुए भी उसे यह कभी नहीं कहना चाहिए कि क्या तेरी पत्नी व्यभिचारिणी है ॥१३७॥ (३०९)

---

*भीड़ के कारण सद्यान से भी प्रजाजनों को क्षति पहुँच सकती है।

मित्र-व्यवहारः

अपशब्दाश्च नो वाच्या, मित्रभावाच्च केष्वपि ।
गोप्यं न गोपयेन्मित्रे, तद् गोप्यं न प्रकाशयेत् ।।१३८।।(३१०)

हितोपदेशः

वदेद् वृद्धानुकूलं यत्, न बालसदृशं क्वचित् ।
परवेश्मगतस्तत्-स्त्री-वेक्षणं न च कारयेत् ।।१३९।।(३१५)

चतुर्थोऽध्यायः

आश्रमिणां मुख्याः धर्माः

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्, सर्वेषां पालने गृही ।
वानप्रस्थः संदमने, संन्यासी मोक्षसाधने ।।१४०।।(२)

पत्नी-कर्त्तव्यानि

मनोवाक्कर्मभिः शुद्धा, पतिदेशानुवर्तिनी ।
छायेवानुगता स्वच्छा, सखीव हितकर्मसु ।
दासीव दिष्टकार्येषु, भार्या भर्तुः सदा भवेत् ।।१४१।।(१२)

पञ्चमोऽध्यायः

पूज्यो नरः

अर्थे वा यदि वा धर्मे, समर्थो देशकालवित् ।
निःसंशयो नरः पूज्यो, नेष्टः संशयिता सदा ।।१४२।।(३७)

मित्र से व्यवहार

मित्रभाव की स्थापना के कारण किसी को भी दुर्वचन नहीं कहने चाहिएँ। मित्र के सामने अपनी गोपनीय बात नहीं छिपानी चाहिए और उस मित्र की छिपाने योग्य बात की विज्ञप्ति नहीं करनी चाहिए ॥१३८॥(३१०)

हितोपदेश

सदा अनुभवियों के योग्य वार्तालाप करना चाहिए न कि बालकों (मूढ़ों) के सदृश। दूसरे के घर में प्रविष्ट होकर महिला जन को देखना उचित नहीं, अर्थात् दृष्टि नीचे रखनी चाहिए ॥१३९॥ (३१५)

अध्याय ४

आश्रमियों के मुख्य धर्म

विद्या की प्राप्ति के लिए जीवन को तपोमय तथा नियमबद्ध बनाते हुए ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना चाहिए। सबके पालन-पोषण के हेतु गृहस्थ होना चाहिए। इन्द्रिय-दमन के लिए वानप्रस्थ और मोक्ष-प्राप्ति के लिए संन्यासी बनना चाहिए। ॥१४०॥(२)

पत्नी के कर्त्तव्य

पति के लिए पत्नी को मन, वाणी और कर्म से शुद्ध, आज्ञानुसारिणी, छाया की भाँति पीछे चलने वाली, निर्मलचरित्र, हितकारी कार्यों में मित्र के समान तथा करणीय कर्मों में दासी के समान होना उचित है ॥१४१॥(१२)

अध्याय ५

पूज्य नर

वह मनुष्य निःसंदेह पूजनीय है, जोकि धर्माचरण में तथा अर्थोपार्जन में समर्थ है; देश तथा काल का ठीक प्रकार से जानने वाला है। सदा संशयशील मनुष्य अच्छा नहीं होता ॥१४२॥(३७)

पुरुषोऽर्थदासः

अर्थस्य पुरुषो दासः, दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
अतोऽर्थाय यतेतैव, सर्वदा यत्नमास्थितः ।।१४३।।(३८)

किं दुःखकरम्

शस्त्रास्त्राभ्यां विना शौर्यं, गार्हस्थ्यं तु स्त्रियं विना ।
ऐकमत्यं विना युद्धं, कौशल्यं ग्राहकं विना ।
दुःखाय जायते नित्यं, सुसहायं विना विपत् ।।१४४।।(३९)

परितोषणप्रकारः

अविभक्तधनान् मैत्र्या, भृत्या भक्तधनान् सदा ।
मित्रं स्वसदृशैर्भोगैः, सत्यैश्च परितोषयेत् ।।१४५।।(४०)

कः धनिकः सुखी

ब्राह्मणाग्निजलैश्चैव धनवान् भक्ष्यते सदा ।
स सुखी मोदते नित्यम्, अन्यथा दुःखमश्नुते ।।१४६।।(४३)

कौ श्लाघ्यौ स्वामिभृत्यौ

भृत्यः स एव सुश्लोको, नापत्तौ स्वामिनं त्यजेत् ।
स्वामी स एव विज्ञेयो, भृत्यार्थे जीवितं त्यजेत् ।।१४७।।(५१)

उत्तममध्यमाधमानां भेदः

उपकरोत्यपकृतो ह्युत्तमो, ऽप्यन्यथाधमः ।
मध्यमः साम्यमन्विच्छेद्, अपरः स्वार्थतत्परः ।।१४८।।(६८)

---

*धनवान् ब्राह्मणों को दान देता है, यज्ञों को करता है तथा जनोपकार के लिए पानी का प्रबन्ध करता है ।

पुरुष धन का दास है

मनुष्य धन का दास है, धन किसी का दास नहीं है। अतः सदा उद्यमशील होकर मनुष्य को धनोपार्जन के लिए यत्न करना चाहिए। ॥१४३॥ (३८)

दुःखदायक क्या है ?

निम्नलिखित बातें सदा दुःख के लिए ही होती हैं—

शस्त्र तथा अस्त्र के बिना वीरता, स्त्री के बिना गृहस्थ, एक सम्मति के बिना युद्ध, ग्राहक के अभाव में कुशलता, और साहाय्य के बिना विपदा ॥१४४॥ (३९)

प्रसादन का ढंग

ज्ञातिवर्ग (जिनके साथ सम्पत्ति का निपटारा नहीं हुआ) को मैत्री से प्रसन्न रखना चाहिए। सम्पत्ति का निबटारा हो चुकने पर सम्बन्धियों को मासिक सहायता नियत कर देने पर खुश रखना चाहिए, तथा मित्रों को अपने सदृश भोगों से तथा सत्याचरण से प्रसन्न रखना चाहिए ॥१४५॥ (४०)

कौन धनी सुखी है ?

धनवान् का उपभोग सदा ब्राह्मण, अग्नि और जल किया करते हैं। वह इसी प्रकार सदा सुखी रहता है। इसके विपरीत धनवान् सदा दुःख का उपभोग करता है ॥१४६॥ (४३)

कौनसे स्वामी तथा भृत्य श्लाघ्य हैं

भृत्य वही प्रशंसनीय है, जो विपदा में स्वामी का परित्याग नहीं करता। वही उत्तम स्वामी है, जो भृत्य के लिए जीवन का त्याग कर सकता है ॥१४७॥ (५१)

उत्तम, मध्यम तथा नीच का भेद

अपकार किए जाने पर भी उत्तम उपकार ही करता है। नीच उपकार किए जाने पर भी अपकार ही करता है। मध्यम उपकार करने पर उपकार और अपकार करने पर अपकार करता हुआ समता का ही बर्ताव चाहता है। इन तीनों से अवशिष्ट लोग स्वार्थवश उपकार तथा अपकार करते हैं ॥१४८॥ (६८)

बहुकार्याणामारम्भो दुःखदः

नारम्भो बहुकार्याणाम्, एकदैव सुखावहः ।
नारम्भितसमाप्तिन्तु, विना चान्यं समाचरेत् ॥१४९॥(७१)

कार्यलक्षणम्

यथाऽच्छिद्रं भवेत् कार्यं, तथैव हि समाचरेत् ।
अविसंवादि विदुषां, कालेऽतीतेऽप्यनापदि ॥१५०॥(७५)

एक साथ बहुत कार्यों के आरम्भ में दोष

एक समय में ही बहुत कार्यों का आरम्भ सुखदायक नहीं होता। आरम्भ (आरब्ध) किए हुए कार्य की समाप्ति से पहले दूसरा कार्य नहीं करना चाहिए ।।१४९।।(७१)

शुभ कार्य

जिस प्रकार कार्य निर्दोष, विद्वानों के सम्मत तथा काल के गुज़र जाने पर भी दुःख के न देने वाला हो सके, वैसा कार्य करना चाहिए ।।१५०।।(७५)

चाणक्य-नीति

वृद्ध चाणक्य (१)

प्रथमोऽध्यायः

नीतिशास्त्र-महत्त्वम्

अधीत्येदं यथा शास्त्रं, नरो जानाति सत्तमः ।
धर्मोपदेशविख्यातं, कार्याकार्यं शुभाशुभम् ।।१।।(२)

तदहं संप्रवक्ष्यामि, लोकानां हितकाम्यया ।
यस्य विज्ञानमात्रेण, सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते ।।२।।(३)

दुःखहेतवः

मूर्खशिष्योपदेशेन, दुष्टस्त्रीभरणेन च ।
द्विषता संप्रयोगेन, पण्डितोऽप्यवसीदति ।।३।।(४)

मृत्यु-हेतवः

दुष्टा भार्या शठं मित्रं, भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः ।।४।।(४)

आत्म-रक्षा

आपदर्थे धनं रक्षेद्, दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्, दारैरपि धनैरपि ।।५।।(६)

वर्जनीयो देशः

यस्मिन् देशे न संमानो, न वृत्तिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चित्, तं देशं परिवर्जयेत् ।।६।।(८)

लोकयात्रा भयं लज्जा, दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ।।७।।(१०)

अध्याय १

नीतिशास्त्र का महत्त्व

जैसे इस शास्त्र को ठीक प्रकार से पढ़कर नरपुंगव धर्मसम्मत कार्य तथा अकार्य और उनके शुभ तथा अशुभ भाव को जान लेता है ।।१।।(२)

लोक-हित की कामना से मैं (चाणक्य) वैसे ही इस शास्त्र का कथन करूँगा, जिसके जान लेने से ही मनुष्य बहुत-कुछ जान लेता है ।।२।।(३)

दुःख के कारण

मूर्ख शिष्य को विद्या पढ़ाने से, दुष्टा स्त्री के पालन-पोषण से तथा दुष्टों के साथ मेल-मिलाप से बुद्धिमान् भी दुःखी हो जाता है ।।३।।(४)

मृत्यु के कारण

दुष्टा स्त्री, बुरा मित्र, आगे बोलने वाला सेवक और सर्प वाले घर में वास—ये सभी मृत्यु का कारण हैं, इसमें संशय नहीं ।।४।।(५)

आत्म-रक्षा

विपदा के समय के लिए धन-संग्रह करना आवश्यक है, धन से अपने गृहस्थ की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु अपने आत्मा का उद्धार धन तथा परिवार से कर लेना चाहिए। अर्थात् आत्मोद्धार के लिए धन तथा परिवार साधन रूप बना लेने चाहिएँ ।।५।।(६)

छोड़ने योग्य देश

जिस देश में मान नहीं, निर्वाह नहीं, बन्धु-बान्धव नहीं और विद्या-प्राप्ति भी नहीं, उस देश का परित्याग कर देना ही उचित है ।।६।।(८)

जिस देश में जीवन-निर्वाह के साधन, भय, लज्जा, अच्छाई और त्याग भाव—ये पांच गुण नहीं हैं, उस देश में टिकाव नहीं करना चाहिए ।।७।।(१०)

भृत्य-बन्धु-मित्र-भार्याणां परीक्षा

जानीयात् प्रेषणे भृत्यान्, बान्धवान् व्यसनागमे ।
मित्रं चापत्तिकालेषु, भार्यां च विभवक्षये ॥८॥(११)

ध्रुवत्यागाध्रुवग्रहणनिन्दा

यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवं परिषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥९॥ (१३)

द्वितीयोऽध्यायः

महत्तपसः फलानि

भोज्यं भोजनशक्तिश्च, रतिशक्तिर्वरस्त्रियः ।
विभवो दानशक्तिश्च, नाल्पस्य तपसः फलम् ॥१०॥(२)

इहैव स्वर्गाधिकारी

यस्य पुत्रो वशीभूतो, भार्या छन्दानुगामिनी ।
विभवे यश्च संतुष्टस्, तस्य स्वर्ग इहैव हि ॥११॥(३)

श्लाघनीयाः

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः, स पिता यस्तु पोषकः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः, सा भार्या यत्र निर्वृतिः ॥१२॥(४)

कुमित्रम्

परोक्षे कार्यहन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं, विषकुम्भं पयोमुखम् ॥१३॥(५)

नौकर, बन्धु, मित्र और भार्या की परीक्षा

कार्य के लिए भेजने पर नौकरों की, विपत्ति आने पर बन्धुओं की तथा मित्रों की और धन-नाश के समय स्त्री की परीक्षा करनी चाहिए ॥८॥(११)

विद्यमान के त्याग और अविद्यमान की इच्छा की निन्दा

जो विद्यमान पदार्थों का परित्याग करके अविद्यमान पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् उनकी प्राप्ति के लिए यत्न करता है, उसके लिए परित्याग के कारण विद्यमान पदार्थों का अभाव हो जाता है और अविद्यमान पदार्थों का तो पहले ही अभाव होता है ॥९॥(१३)

अध्याय २

बड़े भारी तप के फल

निम्नलिखित उपलब्धियाँ महान् तप के फल हैं—भक्ष्य पदार्थों की उपलब्धि और उनके खाने की शक्ति, श्रेष्ठ स्त्रियाँ और उनके उपभोग की शक्ति, धन की विद्यमानता और दान की शक्ति ॥१०॥(२)

इस लोक में ही स्वर्ग का अधिकारी

जिस पुरुष का पुत्र उसके वश में है, स्त्री उसके अनुकूल है, धन होने पर जिसको संतोष है, उस पुरुष का यह लोक ही स्वर्ग है ॥११॥(३)

प्रशंसा के योग्य

वे ही पुत्र पुत्र कहलाते हैं, जो पिता के भक्त हैं, जो पुष्टि करनें में समर्थ है, वही पिता कहलाता है। मित्र वही है, जिसमें विश्वास है और स्त्री वही उत्तम है, जिससे पति को शान्ति मिलती है ॥१२॥(४)

कुमित्र

जो मित्र पीठ के पीछे कार्य के नष्ट करने वाला, परन्तु सामनें बहुत मीठा बोलने वाला है, उस मित्र का परित्याग कर देना चाहिए, (क्योंकि) वह तो हलाहल विष से भरा वह घड़ा है, जिसके मुख पर थोड़ा-सा दूध लगा हुआ है ॥१३॥(५)

हितोपदेशः

मनसा चिन्तितं कार्यं, वाचा नैव प्रकाशयेत् ।
मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं, कार्ये चापि नियोजयेत् ।।१४।।(७)

साधवो नैव सर्वत्र

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ।।१५।।(९)

शत्रुरूपौ पितरौ

माता रिपुः पिता शत्रुर्, बालो येन न पाठ्यते ।
न शोभते सभामध्ये, हंसमध्ये वको यथा ।।१६।।(११)

मित्रताया अपात्रम्

दुराचारी च दुर्दृष्टिर्, दुरावासी च दुर्जनः ।
यन्मैत्री क्रियते पुम्भिर्, नरः शीघ्रं विनश्यति ।।१७।।(१९)

किं कुत्र शोभते

समाने शोभते प्रीतिः, राज्ञि सेवा च शोभते ।
वाणिज्यं व्यवहारेषु, स्त्री दिव्या शोभते गृहे ।।१८।।(२०)

तृतीयोऽध्यायः

कः कस्य सूचकः

आचारः कुलमाख्याति, देशमाख्याति भाषणम् ।
संभ्रमः स्नेहमाख्याति, वपुराख्याति भोजनम् ।।१९।।(२)

मन से विचारे हुए कार्य को वाणी से नहीं कहना चाहिए, उसे मंत्र के समान गुप्त रखना उचित है और फिर क्रियात्मक रूप से कर देना चाहिए ।।१४।।(७)

सभी जगह सच्चे साधु नहीं मिलते

प्रत्येक पर्वत पर हीरा आदि मणियाँ नहीं होतीं, प्रत्येक गज के भाल (मस्तक) पर मुक्ता नहीं होती, प्रत्येक वन में चन्दन नहीं होता, इसी प्रकार सभी स्थानों पर साधु (सज्जन) नहीं हुआ करते ।।१५।।(९)

शत्रुरूप माता-पिता

वह माता शत्रु है और पिता वैरी है, जिन्होंने बालक को नहीं पढ़ाया। उनका बालक सभा में उसी प्रकार बुरा लगता है जैसे हंसों के पाँति में बगुला ।।१६।।(११)

मित्रता के अयोग्य

दुराचारी, दुष्ट दृष्टि से युक्त, दुष्टता से रहने वाले दुर्जन पुरुषों से जो मनुष्य मैत्री करता है, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ।।१७।। (१९)

कौन कहां शोभा देता है

समान अवस्था वालों में प्रेम शोभा देता है, राजा की सेवा शोभा देती है, व्यवहारों में वाणिज्य—लेन-देन शोभा देता है और घर में दिव्य—सद्गुणों से युक्त स्त्री सुशोभित होती है ।।१८।।(२०)

अध्याय ३

कौन क्या बताता है ?

मनुष्य का आचरण सुकुल तथा दुष्कुल को बता देता है, मनुष्य का भाषण देश का परिचय देता है, आदर-मान स्नेह को बतलाता है और शरीर भोजन का परिचय देता है अर्थात् उसका भोजन सुपुष्ट तथा अपुष्ट है, ऐसा बता देता है ।।१९।।(२)

दुर्जनसर्पयोस्तुलना

दुर्जनस्य च सर्पस्य, वरं सर्पो न दुर्जनः ।
सर्पो दशति कालेन, दुर्जनस्तु पदे पदे ॥२०॥ (४)

साधुलक्षणम्

प्रलये भिन्नमर्यादा, भवन्ति किल सागराः ।
सागरा भेदमिच्छन्ति, प्रलयेऽपि न साधवः ॥२१॥ (६)

मूर्खनिन्दा

मूर्खस्तु परिहर्त्तव्यः, प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः ।
भिनत्ति वाक्यशल्येन, अदृष्टः कण्टको यथा ॥२२॥ (७)

रूपयौवनसंपन्ना, विशालकुलसंभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥२३॥ (८)

किं कस्य सौन्दर्यम् ?

कोकिलानां स्वरो रूपं, स्त्रीणां रूपं पातिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां, क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥२४॥ (९)

हितोपदेशः

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं, जपतो नास्ति पातकम् ।
मौने च कलहो नास्ति, नास्ति जागरतो भयम् ॥२५॥ (११)

कोऽतिभारः समर्थानां, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां, कः परः प्रियवादिनाम् ॥२६॥ (१३)

दुर्जन और सांप की तुलना

दुर्जन और सांप इन दोनों में से सांप अच्छा है, परन्तु दुर्जन अच्छा नहीं। क्योंकि साँप तो कभी समय मिलने पर काटता है, परन्तु दुर्जन एक एक पग पर डसता है ॥२०॥(४)

साधु की पहिचान

प्रलय के समय सागर भी अपनी मर्यादाओं को तोड़ देते हैं अर्थात् उनका जल अपने किनारों को तोड़कर सब जगह फैल जाता है, इस कारण सागर में भी भेद हो जाता है, परन्तु सज्जन तो प्रलय काल में भी मर्यादा का भंग नहीं करते ॥२१॥(६)

मूर्ख की निन्दा

मूर्ख का परित्याग कर देना उचित है, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष रूप से दो पाँव वाला पशु है। मूर्ख अपने वाक्-शर से हृदय को तोड़-फोड़ देता है, जैसे न दिखाई देने वाला काँटा पाँव को ज़ख्मी कर देता है ॥२२॥(७)

रूप और जवानी से युक्त, महान् कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य यदि विद्या से हीन हैं, तो वे शोभा नहीं देते। जैसे सौन्दर्य और ताज़गी से भरे टेसू (ढाक) के फूल गन्ध से हीन होने पर आदरणीय नहीं होते ॥२३॥(८)

किसकी सुन्दरता क्या है ?

कोयल का सौन्दर्य उसके स्वर में है, स्त्री का सौन्दर्य उसके पतिव्रत धर्म (सतीत्व) में है, कुरूपों का सौन्दर्य विद्या में है और तपस्वियों का सौन्दर्य क्षमा में होता है ॥२४॥(९)

हित का उपदेश

उद्योग=परिश्रम करने से दरिद्रता नहीं रहती, आत्म-चिन्तन करने से पाप अर्थात् दुष्कर्म नहीं किए जाते, चुप अर्थात् शांत रहने से झगड़ा नहीं होता और सावधान रहने से भय नहीं होता ॥२५॥(११)

समर्थ हृष्ट-पुष्ट के लिए कोई वस्तु भारी नहीं, परिश्रमी के लिए कोई स्थान दूर नहीं, विद्वान् के लिए कोई विदेश नहीं और प्रियभाषी के लिए कोई पराया नहीं ॥२६॥(१३)

सुपुत्र-प्रशंसा

एकेनापि सुवृक्षेण, पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद् वनं सर्वं, सुपुत्रेण कुलं यथा ॥२७॥(१४)

कुपुत्र-निन्दा

एकेन शुष्कवृक्षेण, दह्यमानेन वह्निना ।
दह्यते तद् वनं सर्वं, कुपुत्रेण कुलं यथा ॥२८॥(१५)

सुपुत्र-प्रशंसा

किं जातैर्बहुभिः पुत्रैः, शोक-संतापकारकैः ।
वरमेकः कुलालम्बी, यत्र विश्राम्यते कुलम् ॥२९॥(१७)

संतति-पालन-प्रकारः

लालयेत् पञ्च वर्षाणि, दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥३०॥(१८)

निरर्थको नरः

धर्मार्थ-काम-मोक्षेषु, यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
जन्मजन्मनि मर्त्येषु, मरणं तस्य केवलम् ॥३१॥(२०)

श्री-स्थानम्

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते, धान्यं यत्र सुसंचितम् ।
दंपत्योः कलहो नास्ति, तत्र श्रीः स्वयमागता ॥३२॥(२१)

सुपुत्र की प्रशंसा

सुगन्धित और फूल-फल से युक्त एक भी महान् वृक्ष से सारा वन सुगन्धित और सुरम्य हो जाता है। जैसे सुपुत्र से कुल उज्ज्वल हो जाता है ।।२७।।(१४)

कुपुत्र की निन्दा

आग से जल रहे एक सूखे वृक्ष के कारण सारा जंगल जलकर राख हो जाता है, जैसे कुपुत्र से विशाल कुल कलंकित हो जाता है ।।२८।।(१५)

सुपुत्र की प्रशंसा

शोक और संताप देने वाले बहुसंख्यक पुत्रों के होने से क्या लाभ है ? उनकी अपेक्षा कुल को स्थिर रखने वाला एक अकेला पुत्र ही अच्छा है, जिसके कारण कुल स्थिर रहता है ।।२९।।(१७)

संतान के पालन का ढंग

पाँच वर्ष तक संतान का लालन (लाड-प्यार) करना चाहिए, आगे के दस वर्ष तक (अर्थात् १५ वर्ष की आयु तक) उसे ताडना में रखना चाहिए। जब वह सोलहवें वर्ष में पदार्पण करे, तो उसे मित्र के समान जानकर व्यवहार करना चाहिए ।।३०।।(१८)

निरर्थक मनुष्य

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थों में से जिसके पास प्रत्येक जन्म में एक भी नहीं। उसका जन्म-जन्मान्तर प्राप्त करना मानो केवल मरना ही है ।।३१।।(२०)

लक्ष्मी का निवास

जहाँ मूर्खों की पूजा नहीं होती, जहाँ धान्य भविष्य के लिए संगृहीत किया हुआ है, जहाँ स्त्री-पुरुष में कलह नहीं—वहाँ मानो लक्ष्मी स्वयमेव आई हुई है ।।३२।।(२१)

चतुर्थोऽध्यायः

आत्म-हितम्

यावत् स्वस्थो ह्ययं देहो, यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात्, प्राणान्ते किं करिष्यति ॥३३॥ (४)

विद्याधनम्

काम-धेनु-गुणा विद्या, ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृ-सदृशी, विद्या गुप्तं धनं स्मृतम् ॥३४॥ (५)

सुपुत्र-प्रशंसा

वरमेको गुणी पुत्रो, निर्गुणैश्च शतैरपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च ताराः सहस्रशः ॥३५॥ (६)

षड् देह-दाहकाः

कुग्राम-वासः कुल-हीन-सेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥३६॥ (८)

मूर्खपुत्रनिन्दा

किं तया क्रियते धेन्वा, या न दोग्ध्री न गुर्विणी।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न भक्तिमान् ॥३७॥ (९)

त्रयः शांतिहेतवः

संसार-ताप-दग्धानां, त्रयो विश्रान्तिहेतवः।
अपत्यं च कलत्रं च, सतां संगतिरेव च ॥३८॥ (१०)

अध्याय ४

आत्म-हित

जब तक यह देह स्वस्थ है, जब तक मृत्यु दूर है, अर्थात् अभी आयु छोटी है, तब तक मनुष्य को आत्म-कल्याण कर लेना चाहिए। प्राणों की समाप्ति पर मनुष्य क्या कर सकेगा, अर्थात् कुछ नहीं कर सकेगा ॥३३॥(४)

विद्याधन

विद्या कामधेनु के गुणों से संपन्न है, वह सदा फल के देने वाली है। परदेश में माता के समान है। विद्या को गुप्त धन कहा है ॥३४॥(५)

सुपुत्र की प्रशंसा

सैकड़ों गुण-हीन पुत्रों से एक गुणी पुत्र श्रेष्ठ है। अकेला चन्द्र अंधकार को मिटा देता है, परन्तु हज़ारों नक्षत्र नहीं मिटा सकते ॥३५॥(६)

छः देह के जलाने वाले

छः बातें देह को अग्नि के अभाव में भी जलाती रहती हैं—१. बुरे गाँव में वास, २. आचारहीन की सेवा, ३. खराब भोजन, ४. सदा क्रोध करने वाली पत्नी, ५. मूर्ख पुत्र और ६. विधवा कन्या ॥३६॥(८)

मूर्ख पुत्र की निन्दा

उस गौ का क्या काम है, जो दूध नहीं देती और जो गर्भवती नहीं होती। उस पुत्र के पैदा होने का क्या लाभ है, जो न तो विद्वान् है और न ही भक्ति से युक्त है ॥३७॥(९)

तीन शांति के साधन

संसार के संतापों से संतप्त मनुष्यों के लिए तीन ही शांति के कारण हैं—१. संतान, २. भार्या और ३. सज्जनों की संगति ॥३८॥(१०)

सुभार्या

सा भार्या या शुचिर्दक्षा, सा भार्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्रीता, सा भार्या सत्यवादिनी ॥३९॥(१३)

दारिद्र्यनिन्दा

अपुत्रस्य गृहं शून्यं, दिशः शून्यास्त्वबान्धवाः।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं, सर्वशून्या दरिद्रता ॥४०॥(१४)

त्यागयोग्याः

त्यजेद् धर्मं दयाहीनं, विद्याहीनं गुरुं त्यजेत्।
त्यजेत् क्रोधमुखीं भार्यां, निःस्नेहान् बान्धवांस्त्यजेत् ॥४१॥(१६)

पञ्च पितरः

जनिता चोपनेता च, यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता, पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥४२॥(१९)

पञ्चमातरः

राजपत्नी गुरोः पत्नी, मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च, पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥४३॥(२०)

पञ्चमोऽध्यायः

पुरुष-परीक्षा

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते,
निघर्षण-च्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते,
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥४४॥(२)

वही भार्या उपयुक्त है, जो कि पवित्र और कार्य-कुशला है। वही भार्या अच्छी है, जो पतिव्रता है। वही भार्या शुभा है, जो कि पति से प्रेम करने वाली है और वही भार्या सफला है, जो कि सदा सत्य बोलती है ॥३९॥(१३)

दरिद्रता की निन्दा

सन्तान के अभाव में घर शून्य है, बन्धुओं के बिना दिशा (संसार) शून्य हैं। मूर्ख का हृदय शून्य है और दरिद्र के लिए सभी कुछ शून्य है ॥४०॥(१४)

त्याग के योग्य

दया से हीन धर्म को छोड़ देना चाहिए, विद्या से हीन गुरु का परित्याग कर देना चाहिए, सदा क्रोधशीला पत्नी का और स्नेहहीन बन्धुओं का त्याग कर देना उचित है ॥४१॥(१६)

पांच पिता

इन पाँचों को पिता कहा है—उत्पन्न करने वाला, उपनयन (यज्ञोपवीत) करने वाला अर्थात् जो विद्या का प्रदान करता है, अन्न देने वाला और भय से रक्षा करने वाला ॥४२॥(१९)

पांच माताएँ

निम्नलिखित पांच माताएँ कही गई हैं—

राजा की पत्नी, गुरु की स्त्री, मित्र की भार्या, अपनी स्त्री की माता और अपनी जननी ॥४३॥(२०)

अध्याय ५

मनुष्य की परीक्षा

जैसे वट्टी पर घिसने, काटने, अग्नि में तपाने और पीटने रूपी चार प्रकार की क्रियाओं से सोने की जाँच की जाती है। इसी प्रकार त्याग, सत्-स्वभाव, सद्गुण और सत्-कर्म से मनुष्य की परीक्षा की जाती है। अर्थात् सत्पुरुष इन चारों परीक्षाओं में ठीक उतरता है ॥४४॥(२)

भीतौ किमुचितम्

तावद् भयेषु भेतव्यं, यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा, प्रहर्त्तव्यमशङ्कया ॥४५॥(३)

पदार्थानां धारण-प्रकारः

अभ्यासाद् धार्यते विद्या, कुलं शीलेन धार्यते ।
गुणैर्मित्राणि धार्यन्ते, अक्ष्णा क्रोधश्च धार्यते ॥४६॥(८)

पदार्थानां रक्षण-प्रकारः

वित्तेन रक्ष्यते धर्मो, विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृदुना रक्ष्यते भूपः, सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम् ॥४७॥(९)

पदार्थानां नाश-प्रकारः

दारिद्र्य-नाशनं दानं, शीलं दुर्गति-नाशनम् ।
अज्ञान-नाशिनी प्रज्ञा, भावना भयनाशिनी ॥४८॥(११)

हितोपदेशः

नास्ति कामसमो व्याधिर्, नास्ति मोहसमो रिपुः ।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्, नास्ति ज्ञानात् परं सुखम् ॥४९॥(१४)

कः कुत्र सुहृद्

विद्या मित्रं प्रवासेषु, भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं, धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥५०॥(१५)

वृथानाम किम्

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु, वृथा तृप्तेषु भोजनम् ।
वृथा दानं धनाढ्येषु, वृथा दीपो दिवापि च ॥५१॥(१६)

हितोपदेशः

नास्ति मेघसमं तोयं, नास्ति चात्मसमं बलम् ।
नास्ति चक्षुःसमं तेजः, नास्ति धान्यसमं प्रियम् ॥५२॥ (१७)

भय होने पर क्या करना चाहिए

भय से तभी तक डरना चाहिए, जब तक भय सामने आ नहीं जाता। परन्तु भय को सामने आए हुए देखकर निश्शंक हो उसके नाश के लिए प्रहार करना चाहिए ।।४५।। (३)

पदार्थों के धारण का प्रकार

अभ्यास से विद्या धारण की जाती है, सदाचार से कुल की स्थिरता रहती है, गुणों से मित्र बने रहते हैं और क्रोध सब से पहले आँख में आता है ।।४६।। (८)

पदार्थों के रक्षण का प्रकार

धन से धर्म की रक्षा की जाती है, योग अर्थात् अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है, कोमलता और सरलता से राजा की रक्षा होती है और श्रेष्ठ महिला घर की रक्षा करती है ।।४७।।(९)

पदार्थों के नाश का प्रकार

दान दरिद्रता का नाशक है, सदाचार दुर्गति को दूर करता है, बुद्धि अज्ञान का नाश करती है और सद्भावना भय की नाशक है ।।४८।।(११)

हित का उपदेश

काम (वासना से युक्त) के समान कोई दूसरा रोग नहीं, मोह के समान कोई दूसरा शत्रु नहीं, क्रोध के समान कोई आग नहीं और ज्ञान के तुल्य कोई परम सुख नहीं ।।४९।। (१)

कौन कहां मित्र है ?

विदेश में विद्या मित्र है, घर में भार्या मित्र है, रोगी के लिए औषध मित्र है, मरने वाले का मित्र उसका धर्म अर्थात् किया हुआ शुभ कर्म है ।।५०।। (१५)

वृथा क्या है ?

समुद्रों में वृष्टि निरर्थक है, तृप्तों को भोजन देना वृथा है, धनाढ्यों को दान देना तथा दिन के समय दिये का जला लेना निरर्थक है ।।५१।। (१६)

हित का उपदेश

मेघ के जल के समान दूसरा जल नहीं, आत्म-बल के समान दूसरा बल नहीं, चक्षु के समान दूसरा तेज नहीं और धान्य (अन्न) के समान कोई प्यारा नहीं ।।५२।। (१७)

सत्यम्

सत्येन धार्यते पृथिवी, सत्येन तपते रविः ।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥५३॥ (१९)

षष्ठोऽध्यायः

श्रवण-महिमा

श्रुत्वा धर्मं विजानाति, श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम् ।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति, श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥५४॥ (१)

काल-महिमा

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥५५॥ (६)

को न पश्यति

न पश्यति च जात्यन्धः, कामान्धो नैव पश्यति ।
न पश्यति मदोन्मत्तो, ह्यर्थी दोषान् न पश्यति ॥५६॥ (७)

कः शत्रुः

ऋणकर्ता पिता शत्रुः, माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥५७॥ (१०)

सप्तमोऽध्यायः

किं किं गोप्यम्

अर्थनाशं मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च, मतिमान् न प्रकाशयेत् ॥५८॥ (१)

पृथिवी का धारण सत्य से होता है, सूर्य सत्य से तपता है, वायु सत्य से ही चलता है। सभी कुछ सत्य में ही स्थित है*॥५३॥(१९)

अध्याय ६

सुनने की महिमा

श्रवण करके ही मनुष्य धर्म को जान पाता है, सुन करके ही दुर्मति को छोड़ देता है, सुन कर ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और सुनते-सुनते मोक्ष को भी पा लेता है‡ ॥५४॥(१)

काल की महिमा

काल प्राणियों को पका (वृद्ध) देता है, काल प्रजाओं का संहार कर देता है, काल सोते हुओं में भी सदा जागता रहता है। कोई भी काल का अतिक्रमण नहीं कर पाता ॥५५॥(६)

कौन नहीं देखता ?

जन्मांध देखता नहीं, काम से अन्धा हुआ भी नहीं देखता, अभिमानी भी नहीं देखता और स्वार्थी अपने दोषों को नहीं देखता ॥५६॥(७)

शत्रु कौन है ?

सिर पर कर्ज़ा चढ़ा देने वाला पिता शत्रु है और दुराचारिणी माता शत्रु है, अत्यन्त सुन्दर स्त्री भी शत्रु है और मूर्ख पुत्र भी शत्रु है ॥५७॥(१०)

अध्याय ७

क्या-क्या छिपाना चाहिए ?

धन का नाश, मन का ताप, घर की कलह, ठगा जाना और अपमान का होना—बुद्धिमान् को इन बातों का प्रकाश करना उचित नहीं ॥५८॥(१)

---

*सत्य का अर्थ यहां पदार्थ का अपना धर्म है।

‡यहां सुनने से अभिप्राय महापुरुषों के अनुभूत प्रवचनों से है। और सुनने के साथ आचरण का भी अभिप्राय है।

लज्जा कुत्र नोचिता

धन-धान्य-प्रयोगेषु, विद्या-संग्रहणेषु च ।
आहारे व्यवहारे च, त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥५९॥ (२)

सुखभाक् कः

संतोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
न च तद् धनलुब्धानाम्, इतश्चेतश्च धावताम् ॥६०॥ (३)

संतोषस्यौचित्यमनौचित्यं च

संतोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः, स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्योऽध्ययने, तप-दानयोः ॥६१॥ (४)

के कथं हृष्यन्ति

तुष्यन्ति भोजने विप्रा, मयूरा घनगर्जिते ।
साधवः परसंपत्तौ, खलाः परविपत्तिषु ॥६२॥ (९)

अत्यन्तसरलत्वमनुचितम्

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं, गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र, कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥६३॥ (१२)

त्यागमहिमा

उपार्जितानां वित्तानां, त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदर-संस्थानां, परीवाह इवाम्भसाम् ॥६४॥ (१४)

उपकारिणां शौचम्

वाचः शौचं च मनसः, शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।
सर्वभूते दया शौचं, एतच्छौचं परार्थिनाम् ॥६५॥ (२०)

देहे आत्मनो व्यापकता

पुष्पे गन्धं तिले तैलं, काष्ठेऽग्निं पयसि घृतम् ।
इक्षौ गुडं तथा देहे, पश्यात्मानं विवेकतः ॥६६॥ (२१)

लज्जा कहां उचित नहीं

धन और धान्य के प्रयोग में (बाँट में), विद्या के ग्रहण करने में, आहार और व्यवहार में जो लज्जा का त्याग कर देता है, वह सुखी होता है ।।५९।। (२)

सुखी कौन है ?

संतोषरूपी अमृत से तृप्त हुए शांतचित्त मनुष्यों को जो सुख मिलता है, वह सुख इधर-उधर भागने वाले धन के लोभियों को नहीं मिल सकता ।।६०।। (३)

संतोष कहां उचित है, कहां अनुचित

तीन स्थानों पर संतोष करना चाहिए—अपनी भार्या, अपने भोजन और अपने धन पर।

तीन स्थानों पर संतोष नहीं करना चाहिए—पढ़ने में, तप और दान में अर्थात् इनको जितना हो सके बढ़ाते रहना चाहिए।।६१।।(४)

कौन किस से प्रसन्न होते हैं ?

ब्राह्मण (पुरोहित) भोजन से, मोर बादल की गर्ज से, सज्जन दूसरे के उत्कर्ष पर और दुष्ट दूसरे की विपदा पर प्रसन्न होते हैं ।।६२।।(९)

अत्यधिक सरलता अनुचित है

बहुत अधिक सरल भी नहीं होना चाहिए—जंगल में जाकर देखिए कि वहाँ जो बहुत सीधे वृक्ष होते हैं, वे कट जाते हैं और जो टेढ़े-मेढ़े होते हैं, वे उसी तरह खड़े रहते हैं ।।६३।। (१२)

त्याग की महिमा

उपार्जित धन का सत्पात्र में त्याग ही उसकी रक्षा है। जैसे जलाशय में स्थित जलों का बहाव उनकी रक्षा करता है। अन्यथा जल खराब हो जाता है ।।६४।। (१४)

परोपकारियों की पवित्रता

वाणी और मन की पवित्रता, इन्द्रिय-संयम की पवित्रता, प्राणि-वर्ग पर दयारूपी पवित्रता—यह उपर्युक्त परोपकारियों की पवित्रता है ।।६५।।(२०)

देह में आत्मा की व्यापकता

(जैसे) फूल में सुगन्ध, तिल में तेल, लकड़ी में आग, दूध में घी, गन्ने में गुड विद्यमान है, वैसे ही विवेक के द्वारा देह में विद्यमान आत्मा को देखो ।।६६।।(२१)

अष्टमोऽध्यायः

उत्तमानां मान एव धनम्

अधमा धनमिच्छन्ति, धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानो हि महतां धनम् ।।६७।।(१)

अन्नप्रभावः

दीपो भक्षयते ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं, जायते तादृशी प्रजा ।।६८।।(३)

दान-पात्रम्

वित्तं देहि गुणान्वितेषु मतिमन् नान्यत्र देहि क्वचित्,
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं घनमुखे माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवत्स्थावरजंगमांश्च सकलान् संजीव्य भूमण्डलं,
भूयः पश्य तदेव कोटि-गुणितं, गच्छत्तमम्भोनिधिम् ।।६९।।
(४)

जल-प्रयोगः

अजीर्णे भेषजं वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि, भोजनान्ते विषप्रदम् ।।७०।।(७)

कः कदा नश्यति

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हतश्चाज्ञानतो नरः।
हतं निर्नायकं सैन्यं, स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृकाः ।।७१।।(८)

हितोपदेशः

वृद्धकाले मृता भार्या, बन्धुहस्तगतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं, तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ।।७२।।(९)

शान्तितुल्यं तपो नास्ति, न संतोषात् परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्, न च धर्मो दयापरः ।।७३।।(१३)

उत्तमों का मान ही धन है

नीच पुरुष केवल धन की इच्छा करते हैं, मध्यम पुरुष धन और सम्मान की तथा उत्तम पुरुष सम्मान की ही इच्छा करते हैं, क्योंकि महान् पुरुषों का धन सम्मान ही है ।।६७।।(१)

अन्न का प्रभाव

दीपक अन्धेरे को खाता है और काजल को उत्पन्न करता है। जैसे (शुभ तथा अशुभ) अन्न का सदा सेवन किया जाता है, वैसी ही प्रजा होती है ।।६८।। (३)

दान के पात्र

अयि बुद्धिसंपन्न मानव, अपना धन गुणवानों को ही दीजिए, किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं। इस दृष्टान्त को देखिए—समुद्र का खारा जल जब बादल के मुख में जाता है, तो माधुर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह जल वर्षा के द्वारा सभी स्थावर और जंगम प्राणियों को अनुप्राणित करता हुआ सकल भूमण्डल को नया जीवन देकर फिर करोड़ों गुणा बढ़कर उसी समुद्र में आ जाता है ।।६९।। (४)

जल का प्रयोग

भोजन के अजीर्ण होने की अवस्था में जल औषधरूप तथा भोजन के हज़म होने पर वह शक्तिदायक होता है। इसी प्रकार भोजन के मध्य में पिया हुआ जल अमृत और भोजन के अन्त में विषकारक बन जाता है ।।७०।। (७)

कौन कब नष्ट होता है?

आचरण के अभाव में ज्ञान नष्ट हो जाता है। मनुष्य ज्ञान के विना, सेना नायक के बिना और पतियों के बिना स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं ।।७१।।(८)

हितोपदेश

मानवों के लिए उत्तरोक्त तीनों बातें अत्यन्त दुःख के लिए हैं— १. वृद्धावस्था में पत्नी की मृत्यु, २. बन्धुओं के पास धन का चला जाना और ३. भोजन के लिए परवश होना ।।७२।।(९)

शान्ति जैसा तप नहीं, संतोष से बढ़कर सुख नहीं, तृष्णा से बढ़कर रोग नहीं और दया से बढ़कर धर्म नहीं ।।७३।।(१३)

कस्य कथं भूषणत्वम्

गुणो भूषयते रूपं, शीलं भूषयते कुलम् ।
सिद्धिर्भूषयते विद्यां, भोगो भूषयते धनम् ।।७४।।(१५)

विद्यामहिमा

विद्वान् प्रशस्यते लोके, विद्वान् सर्वत्र गौरवम् ।
विद्यया लभ्यते सर्वं, विद्या सर्वत्र पूज्यते ।।७५।।(२०)

नवमोऽध्यायः

मुक्ति-साधनानि

मुक्तिमिच्छसि चेत् तात, विषयान् विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवं दयां तोषं, सत्यं पीयूषवद् भज ।।७६।।(१)

केषां सुप्तानां प्रबोधनम्

विद्यार्थी सेवकः पान्थः, क्षुधार्तो भयकातरः ।
भाण्डारी प्रतिहारी च, सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत् ।।७७।।(६)

केषां प्रबोधन-निषेधः

अहिं नृपं च शार्दूलं, किटिं च बालकं तथा ।
पर-श्वानं च मूर्खं च, सप्त सुप्तान् न बोधयेत् ।।७८।।(७)

नीति-वाक्यम्

निर्विषेणापि सर्पेण, कर्त्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न चाप्यस्तु फणाटोपो भयंकरः ।।७९।।(१०)

किं कुत्र विराजते

दरिद्रता धीरतया विराजते, कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते ।
कदन्नता चोष्णतया विराजते, कुरूपता शीलतया विराजते ।।८०।।
(१४)

किसकी किस से शोभा होती है ?

गुण से रूप की, सदाचार से कुल की, सफलता से विद्या की तथा भोग से धन की शोभा होती है।

[या]

(गुण रूप को सुभूषित करता है, सदाचार कुल को अलंकृत करता है, सफलता विद्या को मण्डित करती है और भोग धन को सुभूषित करता है) ।।७४।। (१५)

विद्या की महिमा

विद्वान् की संसार में प्रशंसा होती है, विद्वान् सारे भूमण्डल का गौरव है। विद्या से सभी-कुछ मिल जाता है और विद्या की सभी जगह पूजा होती है ।।७५।।(२०)

अध्याय ९

मुक्ति के साधन

प्यारे, यदि आप मुक्ति चाहते हैं, तो विषयों को विष के समान समझकर छोड़ दीजिए। क्षमा, सरलता, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान जानकर प्राप्त कीजिए ।।७६।। (१)

किन सोए हुओं को जगाना उचित है

उत्तरोक्त सोए हुए सात प्राणियों को जगा देना चाहिए—१. विद्यार्थी, २. सेवक, ३. यात्री, ४. भूखा, ५. भयभीत, ६. भाण्डाराधिकारी और ७. द्वारपाल ।।७७।।(६)

किन को जगाना नहीं चाहिए

उत्तरोक्त सोए हुए सात प्राणियों को जगाना नहीं चाहिए—१. साँप, २. राजा, ३. सिंह, ४. सूअर, ५. बालक, ६. दूसरे का कुत्ता और ७. मूर्ख ।।७८।।(७)

नीति-वाक्य

विषहीन सर्प को भी अपना फण फैलाए रखना चाहिए, विष हो या न हो, फैला हुआ फण ही बड़ा भयदायक होता है ।।७९।।(१०)

कौन कहां शोभा देता है ?

धीरज होने से दरिद्रता भी शोभा देती है, धुले हुए होने से जीर्ण वस्त्र भी अच्छे लगते हैं, घटिया भोजन भी गर्म होने से स्वादु लगता है और सुन्दर स्वभाव के कारण कुरूपता भी शोभा देती है ।।८०।।(१४)

दशमोऽध्यायः

सदाचारः

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
शास्त्रपूतं वदेद् वाक्यं, मनःपूतं समाचरेत् ॥८१॥ (२)

विद्या

सुखार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी चेत् त्यजेत् सुखम् ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ॥८२॥ (३)

मनुष्यरूपाः पशवः

येषां न विद्या न तपो न दानं, न चापि शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥८३॥ (७)

बुद्धिमहत्त्वम्

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥८४॥ (९)

केषां द्वेषात् केषां क्षयः

आत्म-द्वेषाद् भवेन्मृत्युः, पर-द्वेषाद् धन-क्षयः ।
राज-द्वेषाद् भवेन्नाशो, ब्रह्म-द्वेषात् कुल-क्षयः ॥८५॥ (११)

एकादशोऽध्यायः

छात्रेभ्यो वर्जनीयानि

कामं क्रोधं तथा लोभं, स्वादु शृङ्गारकौतुके ।
अतिनिद्रातिसेवे च, विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत् ॥८६॥ (१०)

सदाचार

आँख से देखकर पाँव रखना चाहिए, वस्त्र से छानकर जल पीना उचित है, शास्त्र के अनुसार प्रवचन करना चाहिए तथा मन से विचार कर कार्य करना उचित है ॥८१॥ (२)

विद्या

(विद्यार्थी) यदि आराम चाहता है, तो उसे विद्याध्ययन छोड़ देना उचित है, यदि वह विद्या का अभिलाषी है, तो आराम का परित्याग करना चाहिए। आराम-पसन्द के लिए विद्या नहीं और विद्या के अभिलाषी के लिए आराम नहीं होता ॥८२॥ (३)

मनुष्यरूपी पशु

जिन मानवों के पास विद्या, तप, दान, सत्स्वभाव, गुण और कर्त्तव्य कर्म नहीं, वे मानवों की इस भूमि पर भाररूप हैं और मनुष्यों के रूप में पशु विचर रहे हैं ॥८३॥ (७)

बुद्धि का महत्त्व

जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं, शास्त्र उसके लिए क्या कर सकता है ? जो मनुष्य नेत्रहीन है, उसके लिए दर्पण का क्या काम है ॥८४॥ (९)

किन के द्वेष से किन का नाश होता है

अपने साथ द्वेष करने से मृत्यु होती है, दूसरे के साथ द्वेष करने से धन-नाश होता है, राज्य के साथ द्वेष से भी अपना नाश तथा ज्ञान के साथ द्वेष करने से कुल का नाश होता है ॥८५॥ (११)

अध्याय ११

विद्यार्थियों के लिए वर्जनीय

विद्यार्थी को उत्तरोक्त आठ बातें छोड़ देनी चाहिएँ—१. काम, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. स्वाद, ५. शृङ्गार, ६. तमाशे, ७. अधिक निद्रा और ८. अत्यधिक सेवा ॥८६॥ (१०)

द्वादशोऽध्यायः

नीचस्य सर्वं वपुर्निन्द्यम्

हस्तौ दान-विवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वत-द्रोहिणौ,
नेत्रे साधु-विलोकनेन रहिते, पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जित-वित्त-पूर्णमुदरं गर्वेण तुङ्गं शिरः,
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा, नीचस्य निन्द्यं वपुः ॥८७॥ (४)

संगतिप्रभावः

सत्संगाद् भवति हि साधुता खलानां,
साधूनां नहि खलसंगमात् खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते,
मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति ॥८८॥ (७)

साधु-संगतिः

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं, सद्यः साधुसमागमः ॥८९॥ (८)

षड् बान्धवाः

सत्यं माता, पिता ज्ञानं, धर्मो भ्राता, दया स्वसा।
शान्तिः पत्नी, क्षमा पुत्रः, षडेते मम बान्धवाः ॥९०॥ (११)

सम्यक् द्रष्टा

मातृवत् परदारांश्च, पर-द्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥९१॥ (१४)

धर्म-धन-विद्यार्जन-प्रकारः

जल-बिन्दुनिपातेन, क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां, धर्मस्य च धनस्य च ॥९२॥ (२०)

नीच का सारा शरीर निन्दनीय है

(इस मृतक के) हाथ दान से हीन थे, इसके कान ज्ञान-द्रोही थे, इसकी आँखें भला देखने से शून्य थीं, इसके पाँव कभी तीर्थ (शुभ स्थान) पर नहीं गए, इसका पेट अन्याय से उपार्जित धन से परिपूर्ण रहा, इसका सिर अभिमान से सदा ऊँचा रहा, इसलिए अयि (शव को खाने वाले) गीदड़, इस शव को छोड़ दे, यह तो किसी नीच का निन्दनीय शरीर है। (इसके खाने से तू भी निन्दा के योग्य हो जाएगा) ॥८७॥(४)

संगति का प्रभाव

साधुओं के संग से दुष्ट भी साधु हो जाते हैं और दुष्टों के संग से साधुओं में दुष्टता नहीं आती। जैसे ज़मीन पर पड़े फूलों से उत्पन्न सुगन्ध के कारण मिट्टी भी सुगन्धित हो जाती है, परन्तु मिट्टी से उत्पन्न हुए फूल अपने अन्दर मिट्टी की दुर्गन्ध को नहीं लाते ॥८८॥ (७)

साधुओं की संगत

साधुओं (सज्जनों) का दर्शन पुण्यमय है, क्योंकि सज्जन ही वास्तव में तीर्थ हैं। तीर्थ-भूमि का फल तो कभी समय पर मिलता है, परन्तु साधुओं का समागम तुरन्त फल देता है ॥८९॥(८)

छः बन्धु

सत्य माता, ज्ञान पिता, धर्म भाई, दया बहिन, शान्ति पत्नी और क्षमा पुत्र—ये ही मेरे छः बन्धु हैं ॥९०॥(११)

ठीक देखने वाला

माता के समान पर-स्त्री को, मिट्टी के ढेले के समान दूसरे के धन को और अपने समान सभी प्राणियों को जो देखता है, वही वास्तव में देखता है ॥९१॥ (१४)

धर्म, धन और विद्या के उपार्जन का प्रकार

क्रम से जल की एक-एक बूंद गिरने पर कलश भर जाता है, यही रहस्य सभी विद्याओं, धर्म और धन के सम्बन्ध में है ॥९२॥(२०)

त्रयोदशोऽध्यायः

वर्तमान-महिमा

गते शोको न कर्त्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत् ।
वर्तमानेन कालेन, प्रवर्तन्ते विचक्षणाः ॥९३॥(२)

महल्लक्षणम्

अहो बत विचित्राणि, चरितानि महात्मनाम् ।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते, तद्भारेण नमन्ति च ॥९४॥(३)

धर्मार्थिकाममोक्षाणां महिमा

धर्मार्थिकाम-मोक्षाणां, यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजा-गल-स्तनस्येव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥९५॥(९)

अधमपुरुषाः

दह्यमानाः सुतीव्रेण, नीचाः पर-यशोऽग्निना ।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं, ततो निंदां प्रकुर्वते ॥९६॥(१०)

मनसो लक्षणम्

बन्धाय विषयासक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं मनः ।
मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः ॥९७॥(११)

सेवा-महत्त्वम्

यथा खात्वा खनित्रेण, भूतले वारि विन्दति ।
तथा गुरुगतां विद्यां, शुश्रूषुरधिगच्छति ॥९८॥(१६)

वर्तमान का महत्त्व

गुज़र जाने पर शोक न कीजिए, आने वाले की चिन्ता न कीजिए। बुद्धिमान् वर्तमान (चल रहे) काल का ध्यान करके कार्यों में प्रवृत्त होते हैं ।।९३।।(२)

महापुरुषों के लक्षण

महात्माओं के चरित्र विचित्र होते हैं। वे लक्ष्मी को तिनके के समान लघु मानते हैं, परन्तु उसके भार से झुक जाते हैं। अर्थात् लक्ष्मी की परवाह नहीं करते, परन्तु लक्ष्मी के पास होने पर वे अधिक नम्र हो जाते हैं ।।९४।।(३)

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का महत्त्व

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों में से जिसके पास एक भी नहीं, उस मानव का जन्म बकरी के गले में लटकने वाले थन के समान निरर्थक है ।।९५।।(९)

नीच मनुष्य

नीच मनुष्य दूसरे की यशरूपी तेज अग्नि से जलते हुए उनके अनुकरण में असमर्थ होकर उनकी निन्दा करने लगते हैं ।।९६।। (१०)

मन का लक्षण

विषयों में ग्रस्त मन बन्धन का कारण है, विषयों में अनासक्त मन मुक्ति का कारण है। अतः मनुष्यों का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है ।।९७।।(११)

सेवा की महिमा

जैसे मनुष्य कुदाल से पृथिवी को खोद कर उसके तल से जल प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा करने वाला शिष्य गुरु के पास विद्यमान विद्या को प्राप्त कर लेता है ।।९८।।(१६)

चतुर्दशोऽध्यायः

किन्नाम रत्नम् ?

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम् ।
मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्न-संख्या विधीयते ॥९९॥ (१)

कीदृशी मतिः मुक्तिप्रदा

धर्माख्याने श्मशाने च, रोगिणां या मतिर्भवेत् ।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत्, को न मुच्येत बन्धनात् ॥१००॥ (६)

उत्पन्नपश्चात्तापस्य, बुद्धिर्भवति यादृशी ।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात्, कस्य न स्यान्महोदयः ॥१०१॥ (७)

अभिमाननिषेधः

दाने तपसि शौर्ये वा, विज्ञाने विनये नये ।
विस्मयो नहि कर्त्तव्यो, बहुरत्ना वसुन्धरा ॥१०२॥ (८)

दूरस्थोऽपि न दूरस्थो, यो यस्य मनसि स्थितः ।
यो यस्य हृदये नास्ति, समीपस्थोऽपि दूरतः ॥१०३॥ (९)

को जीवति ?

स जीवति गुणा यस्य, यस्य धर्मः स जीवति ।
गुण-धर्मविहीनस्य, जीवितं निष्प्रयोजनम् ॥१०४॥ (१३)

निन्दानिषेधः

यदीच्छसि वशीकर्तुं, जगदेकेन कर्मणा ।
परापवाद-सस्येभ्यो, गां चरन्तीं निवारय ॥१०५॥ (१४)

पण्डितलक्षणम्

प्रस्ताव-सदृशं वाक्यं, स्वभाव-सदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्ति-समं कोपं, यो जानाति स पण्डितः ॥१०६॥ (१५)

रत्न कौन से हैं

वसुन्धरा पर तीन ही रत्न हैं—जल, अन्न और सुभाषित। परन्तु मूर्खों ने पत्थर के टुकड़ों का नाम रत्न रखा हुआ है ॥९९॥(१)

मुक्ति के देने वाली बुद्धि

धर्म-प्रवचन के समय तथा श्मशान के स्थान पर और रुग्णावस्था में जो विचार-धारा होती है, वह यदि सदा ही बना रहे, तो कौन संसार के बन्धन से मुक्त न हो जाए ॥१००॥(६)

पश्चात्ताप के उत्पन्न होने पर जैसी बुद्धि होती है, वह बुद्धि यदि अपराध से पूर्व ही हो जाए, तो किसका महान् उत्कर्ष न हो ॥१०१॥ (७)

अभिमान का निषेध

दान, तप, वीरता, विज्ञान, विनय और नीति में अभिमान करना उचित नहीं। वह पृथिवी अनेक रत्नों अर्थात् गुणी जनों से भरी पड़ी है। अतः और भी बहुत-से लोग उपर्युक्त गुण-रत्नों को अपना सकते हैं ॥१०२॥(८)

जो जिसके हृदय में विराजमान है, वह दूर रहता हुआ भी दूर नहीं है, परन्तु जो जिसके हृदय में नहीं है, वह समीप होता हुआ भी समीप नहीं है ॥१०३॥ (९)

जीवित कौन है ?

जिसके पास गुण हैं, वह वास्तव में जीवित है, और जिसके पास धर्म है, वह भी जीवित है। परन्तु गुण और धर्म से जो हीम है, उसका जीवन निष्प्रयोजन है ॥१०४॥(१३)

निन्दा का निषेध

यदि आप एक ही कर्म से सारे जगत् को अपने वश में करना चाहते हैं, तो दूसरों के अपवादरूपी धान्य भरे खेतों में विचर रही अपनी गौरूपी वाणी को रोक लीजिए ॥१०५॥(१४)

पण्डित की पहिचान

प्रस्तुत वार्तालाप के अनुकूल वाक्य-रचना को, (अपने) स्वभाव के अनुसार प्रिय को, और अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करने को जो जानता है, वही बुद्धिमान् है ॥१०६॥(१५)

हितोपदेशः

त्यज दुर्जन-संसर्गं, भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम् ॥१०७॥(२०)

पञ्चदशोऽध्यायः

दुष्टपरित्यागः

खलानां कण्टकानां च, द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानन्मुखभङ्गो वा, दूरतो वा विवर्जनम् ॥१०८॥(३)

सारग्रहणम्

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः, अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
यत् सारभूतं तदुपासनीयं, हंसो यथा क्षीरमिवाम्बु-मध्यात् ॥१०९॥
(१०)

आत्मज्ञानम्

पठन्ति चतुरो वेदान्, धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
आत्मानं नैव जानन्ति, दर्वी पाकरसं यथा ॥११०॥(१२)

पराश्रितस्य निन्दा

अयममृत-निधानं, नायकोप्योषधीनाम्,
अमृतमय-शरीरः कान्ति-युक्तोऽपि चन्द्रः ।
भवति विगत-रश्मिर्,मण्डलं प्राप्य भानोः,
परसदन-निविष्टः को लघुत्वं न याति ॥१११॥(१४)

हित का उपदेश

दुर्जनों की संगत छोड़ दीजिए, सन्त-समागम को प्राप्त कीजिए, दिन-रात पुण्य कर्म कीजिए; सदा अपनी अनित्यता (नश्वरता) का ध्यान रखिए ॥१०७॥(२०)

अध्याय १५

दुष्ट का परित्याग

काँटों और दुष्टों से निबटने के दो ही तरीके हैं—१. जूते से उनके मुख को तोड़ देना, अथवा २. दूर से ही उनका परित्याग ॥१०८॥(३)

सार का ग्रहण

शास्त्रों की संख्या अनन्त है, विद्याएँ भी बहुत हैं। समय बहुत थोड़ा है और विघ्न बहुत अधिक आते हैं। अतः जो साररूप से है, उसका ही ग्रहण कीजिए। जैसे हंस दूध-मिले जल में से दूध को ग्रहण कर लेता है ॥१०९॥(१०)

आत्मा का ज्ञान

बहुत से लोग चारों वेदों को पढ़ लेते हैं, अनेक बार धर्मशास्त्रों का पाठ भी कर लेते हैं, परन्तु वे आत्म-ज्ञान से शून्य रहते हैं। उनकी अवस्था उस कड़छी के समान है, जो सुस्वादु भोजन में पड़ती रहती है, परन्तु उस भोजन की स्वादुता ग्रहण नहीं कर पाती ॥११०॥(१२)

पराश्रित की निन्दा

यह अमृत का कोष, ओषधियों का राजा, अमृतमय शरीर से युक्त, कान्तिमय चाँद सूर्य के मण्डल में जाकर (अर्थात् दिन के समय) कान्ति-हीन हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे के घर में रहता हुआ कौन पुरुष तुच्छ नहीं बन जाता ॥१११॥(१४)

षोडशोऽध्यायः

गुणमहिमा

गुणैरुत्तमतां याति, नोच्चैरासन-संस्थितः ।
प्रासादशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते ॥११२॥(६)

याचकनिन्दा

तृणं लघु तृणात् तूलं, तूलादपि च याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ, मामयं याचयिष्यति ॥११३॥(१५)

मानरक्षणम्

वरं प्राण-परित्यागो, मानभङ्गेन जीवनात् ।
प्राण-त्यागे क्षणं दुःखं, मानभङ्गो दिने दिने ॥११४॥(१६)

प्रिय-कथनम्

प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।
तस्माद् तदेव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता ॥११५॥(१७)

संसार-कटुवृक्षस्य, द्वे फले अमृतोपमे ।
सुभाषितं च सुस्वादु, संगतिः सुजने जने ॥११६॥(१८)

गुणों की महिमा

मनुष्य गुणों से उत्तम बनता है, न कि ऊँचे आसन पर बैठा हुआ उत्तम होता है। जैसे ऊँचे महल के शिखर पर बैठकर भी कौआ कौआ ही रहता है, गरुड़ नहीं बनता ॥११२॥(६)

याचक की निन्दा

तिनका हलका (क्षुद्र) है, तिनके से भी रूई हलकी है, माँगने वाला रूई से भी हलका होता है। परन्तु 'यह मुझ से भी मांगेगा ही' इस कारण वायु उसे उड़ाकर अपने साथ नहीं ले जाती। हलकी वस्तु को वायु उड़ा ले जाती है ॥११३॥(१५)

मान का संरक्षण

तिरस्कृत जीवन की अपेक्षा प्राणों का परित्याग कर देना अच्छा है। प्राणों के त्याग के समय थोड़ी देर का दुःख होता है, परन्तु तिरस्कृत जीवन में प्रतिदिन का दुःख होता है ॥११४॥(१६)

प्रिय कथन

प्रिय वाक्यों के बोलने से सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं। अतः प्रिय ही बोलना चाहिए। बोलने में दरिद्रता क्यों करनी चाहिए ॥११५॥ (१७)

संसाररूपी कड़ुए वृक्ष के दो ही अमृत के समान फल हैं—१. सुमधुर सुभाषित (मीठा बोलना) और २. सज्जन पुरुषों की संगत ॥११६॥(१८)

सप्तदशोऽध्यायः

गुणस्तुतिः, दोषनिन्दा

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,
सत्यं चेत् तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद् विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥११७॥(४)

दुर्जननिन्दा

तक्षकस्य विषं दन्ते, मक्षिकाया विषं शिरः ।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छं, सर्वाङ्गे दुर्जने विषम् ॥११८॥(८)

दानादीनां प्रशंसा

दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन, स्नानेन शुद्धिर्न तु चन्दनेन ।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन, ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मुण्डनेन ॥११९॥(१२)

परोपकारमहिमा

परोपकरणं येषां, जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषां, संपदः स्युः पदे पदे ॥१२०॥(१५)

नराणां पशूनां मिथो भेदः

आहारनिद्रा भयमैथुनानि, समानि चैतानि नृणां पशूनाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो, ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥१२१॥
(१७)

अध्याय १७

गुण की स्तुति और दोष की निन्दा

यदि मनुष्य में लोभ है तो दूसरे दोषों का क्या काम ? (लोभ बड़ा भारी दोष है) यदि परनिन्दा है, तो अन्य पापों का क्या प्रयोजन है। (परनिन्दा बड़ा भारी पाप है) यदि सत्य है, तो अन्य तपों का कोई लाभ नहीं, (सत्य ही सबसे बढ़कर तप है) यदि मन पवित्र है, तो तीर्थों से क्या काम ? (पवित्र मन ही एक महान् तीर्थ है) यदि सज्जनता है, तो अन्य गुणों का कोई प्रयोजन नहीं, (सज्जनता सभी गुणों से बड़ी है) यदि संसार में अच्छी महिमा है, तो अलंकारों की ज़रूरत नहीं। (महिमा भूषणों का सिरताज है) यदि सच्ची विद्या है, तो दूसरे धनों की क्या आवश्यकता है, (विद्या उत्तम धन है) यदि संसार में अपयश है, तो मृत्यु का क्या प्रयोजन है। (अपयश स्वयं मृत्यु है) ॥११७॥(४)

दुर्जन-निन्दा

साँप के दाँतों में, मक्खी के सिर में, बिच्छू की पूंछ में विष होता है। परन्तु दुर्जन के सभी अंगों में विष भरा होता है ॥११८॥ (८)

दान आदियों की प्रशंसा

दान से ही हाथ शोभा पाता है, कङ्कन से नहीं। स्नान से शरीर की शुद्धि होती है, चन्दन लगाने से नहीं। मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं। ज्ञान से मुक्ति मिलती है सिर मुंडा लेने से नहीं मिलती ॥११९॥(१२)

परोपकार की महिमा

जिन सज्जनों के हृदयों में परोपकार का भाव सदा जागरूक रहता है, उनकी सभी विपदाएँ नष्ट हो जाती हैं और उन्हें पग-पग पर संपत्ति प्राप्त होती है ॥१२०॥(१५)

मानव और पशु में भेद

आहार, नींद, भय और संतानोत्पत्ति—ये चारों मनुष्यों में और पशुओं में समान हैं। मनुष्यों में ज्ञान ही विशेष रूप से अधिक है, जो मनुष्य ज्ञान से हीन है, वे पशु के समान होता है ॥१२१॥(१७)

वृद्ध चाणक्य (२)

प्रथमोऽध्यायः

पण्डितलक्षणम्

चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन पण्डितः।
नासमीक्ष्य परं स्थानं, पूर्वमायतनं त्यजेत् ॥१२२॥(८)

द्वितीयोऽध्यायः

खलः

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः, सर्पात् क्रूरतरः खलः।
मन्त्रौषधि-वशः सर्पः, खलः केनोपशाम्यति ॥१२३॥(८)

तृतीयोऽध्यायः

परपदार्थग्रहणनिन्दा

परान्नं परवस्त्रं च, परशय्यां परस्त्रियः।
परवेश्मनिवासं च, दूरतः परिवर्जयेत् ॥१२४॥(५)

अक्षयो निधिः

शिल्पं शीलमनालस्यं, पाण्डित्यं मित्र-संग्रहः।
अचौरहरणीयानि, पञ्चैतान्यक्षयो निधिः ॥१२५॥(८)

चतुर्थोऽध्यायः

प्रातरुत्थानम्

धर्ममर्थं च कामं च, यथाशक्ति न हारयेत्।
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय, चिन्तयेदात्मनो हितम् ॥१२६॥(१)

अध्याय १

पण्डित का लक्षण

बुद्धिमान् एक पाँव को उठाता है और दूसरे पाँव को स्थिर रखता है। इसी प्रकार अगले स्थान को देखे बिना पहला स्थान छोड़ना उचित नहीं ॥१२२॥(८)

अध्याय २

दुष्ट

साँप भी क्रूर है और दुष्ट भी क्रूर है, परन्तु साँप से दुष्ट अधिक क्रूर है। मंत्र तथा औषधि से साँप वश में हो जाता है, परन्तु दुष्ट तो किसी प्रकार शान्त नहीं होता ॥१२३॥(८)

अध्याय ३

पर-वस्तु-ग्रहण का निषेध

दूसरे का अन्न, दूसरे का वस्त्र, दूसरे की शय्या, दूसरे की स्त्री, दूसरे के घर में निवास—इन बातों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए ॥१२४॥(५)

न समाप्त होने वाला धन

उत्तरोक्त पाँच न चुराए जाने वाले और न नाश होने वाले कोष हैं—शिल्प, सदाचार, उद्यम, बुद्धिमत्ता, मित्रों का संग्रह ॥१२५॥ (८)

अध्याय ४

प्रातः उठना

शक्ति के अनुसार धर्म, अर्थ और काम का परित्याग नहीं करना चाहिए। ब्राह्म मुहूर्त (भोर समय) में उठकर अपने कल्याण का चिन्तन करना चाहिए ॥१२६॥(१)

वैद्यः

आयुर्वेदकृताभ्यासः, सर्वेषां प्रियदर्शनः।
उक्त-हेतु-समायुक्त, एष वैद्यो विधीयते ॥१२७॥(११)

लेखकः

मेधावी वाक्-पटुः प्राज्ञः, सत्यवादी जितेन्द्रियः।
सर्वशास्त्रसमालोकी, एष साधुः स लेखकः ॥१२८॥(१२)

कृतघ्नपरित्यागः

त्यजेत् स्वामिनमत्युग्रम्, अत्युग्रात् कृपणं त्यजेत्।
कृपणादविशेषज्ञं, तस्माच्च कृतनाशनम् ॥१२९॥(१४)

मूर्खोपदेशो हानिकरः

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्धनम् ॥१३०॥(१७)

षष्ठोऽध्यायः

अर्थप्रशंसा

अर्थेन हि विहीनस्य, पुरुषस्याल्पमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा, ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥१३१॥(१०)

किं शनैः कार्यम्

शनैरर्थाः शनैर्विद्या, शनैः पर्वतमारुहेत्।
शनैर्धर्मश्च कामश्च, व्यायामश्च शनैः शनैः ॥१३२॥(१४)

वैद्य

उसी वैद्य का विधान किया गया है, जिसने आयुर्वेद में पूर्ण अभ्यास किया हुआ है, सभी के लिए जिसका दर्शन प्रिय है। अर्थात् जिसके हाथ में नीरोगता है। उपर्युक्त बात से सम्पन्न ही सच्चा वैद्य है ॥१२७॥(११)

लेखक

जो बुद्धिमान् है, वाक्-चतुर है, सत्यभाषी है, इन्द्रिय-संयमी है, सभी शास्त्रों का ज्ञाता है, वही लेखक अच्छा लेखक है ॥१२८॥ (१२)

कृतघ्न का सर्वथा परित्याग

अत्यन्त उग्र स्वामी का परित्याग कर देना चाहिए। अत्युग्र और कृपण में से कृपण को छोड़ देना चाहिए। कृपण और विशेषता की पहिचान न करने वाले में से विशेषता की पहिचान न कर सकने वाले को और विशेषता की पहिचान न कर सकने वाले और किए हुए का नाश कर देने वाले में से किए हुए का नाश कर देने वाले स्वामी को छोड़ देना चाहिए ॥१२९॥(१४)

मूर्ख को उपदेश हानिकर

मूर्खों को उपदेश देना उनको क्रुद्ध करने के लिए होता है, शान्त करने के लिए नहीं होता। जैसे साँपों को दूध पिलाना उनके विष को बढ़ाना ही है ॥१३०॥(१७)

अध्याय ९

धन-प्रशंसा

अल्प बुद्धि वाले धन-हीन मनुष्य के सभी काम नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। जैसे ग्रीष्म-काल में छोटी-छोटी नदियाँ सर्वथा सूख जाती हैं ॥१३१॥(१०)

क्या-क्या धीरे करना चाहिए

धनों का उपार्जन तथा विद्या की प्राप्ति शनैः-शनैः करनी चाहिए। पर्वत पर भी शनैः-शनैः चढ़ना उचित है। धर्म तथा काम की प्राप्ति भी शनैः-शनैः करनी आवश्यक है। इसी प्रकार व्यायाम भी शनैः-शनैः करना चाहिए ॥१३२॥(१४)

दानाध्ययनयोः प्रशंसा

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा, वल्मीकस्य च संचयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्, दानाध्ययनकर्मभिः ॥१३३॥(१५)

सप्तमोऽध्यायः

जरारूपिणी भार्या

यस्य भार्या विरूपाक्षी, कश्मली कलहप्रिया ।
उत्तरोत्तरवादी (?) च, सा जरा न जरा जरा ॥१३४॥(३)

लक्ष्मीरूपिणी भार्या

यस्य भार्या शुचिर्दक्षा, भर्तारमनुगामिनी ।
नित्यं मधुरभाषी (?) च, सा श्रियो न श्रियः श्रियः ॥१३५॥(४)

सज्जनदुष्टयोर्लक्षणम्

नारिकेल-समाकारा, दृश्यन्ते केऽपि सज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा, बहिरेव मनोहराः ॥१३६॥(१०)

कुपुत्रः

यस्य पुत्रो न विद्वांश्च, न शूरो न च पण्डितः ।
अन्धकारं कुलं तस्य, नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥१३७॥(११)

सुपुत्रः

शर्वरीदीपकश्चन्द्रः, प्रभाते दीपको रविः ।
त्रैलोक्यदीपको धर्मः, सुपुत्रः कुलदीपकः ॥१३८॥(१२)

कस्य सफलं जीवनम्?

जीविते यस्य जीवन्ति, विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य, आत्मार्थं को न जीवति ॥१३९॥(१४)

दान तथा अध्ययन की प्रशंसा

काजल के शनैः-शनैः नाश को, तथा बांबी की शनैः-शनैः वृद्धि को ध्यान में रखकर दान, स्वाध्याय और कर्मों के थोड़ा-थोड़ा करने से भी अपने दिन को सार्थक बनाना चाहिए ।।१३३।।(१५)

अध्याय ७

बुढ़ापे को लाने वाली भार्या

जिसकी पत्नी कुरूपा, कसैली, झगड़ालू और लतर-लतर करने वाली है, उसका वही बुढ़ापा है, बुढ़ापा बुढ़ापा नहीं ।।१३४।।(३)

लक्ष्मीरूपा भार्या

जिसकी पत्नी, पवित्र, कर्मकुशल, अनुकूल चलने वाली और सदा मीठा बोलने वाली है, वही मनुष्य की लक्ष्मी है, दूसरी लक्ष्मी (धन) लक्ष्मी नहीं ।।१३५।।(४)

सज्जन तथा दुष्ट के लक्षण

सज्जन नारियल के समान दिखाई देते हैं । अर्थात् उनका बाहिर का रूप बहुत मनोरम नहीं होता, परन्तु भीतर से गरी के समान रसयुक्त, कोमल और मधुर होते हैं । इनके विपरीत दुष्ट लोग बेर के समान बाहर से मनोहर होते हैं, परन्तु भीतर से गुठली के समान नीरस और कठोर होते हैं ।।१३६।।(१०)

कुपुत्र

जिसका पुत्र विद्वान् नहीं, शूर नहीं और पण्डित नहीं है, उसका कुल चन्द्रहीन रात्रि के समान अन्धकार से पूर्ण है ।।१३७।।(११)

सुपुत्र

रात्रि का दीपक चन्द्र है, प्रभात (दिन) का दीपक सूर्य है, त्रिलोकी का दीपक धर्म है और सुपुत्र कुल का दीपक है ।।१३८।।

किस का जीवन सफल है ?

जिसके जीने पर विद्वान्, उसके मित्र तथा सम्बन्धी जीवित रहते हैं अर्थात् वह उनके जीवन का आधार बनता है। उसी का जीवन सफल है। अपने लिए तो कौन नहीं जीता ।।१३९।।(१४)

अष्टमोऽध्यायः

देवी भार्या

नित्यं स्नाता सुगन्धा च, नित्यं च प्रियवादिनी ।
अल्पाहाराल्पजल्पा च, देवता सा न मानुषी ॥१४०॥(६)

मूर्खसहस्रेषु प्राज्ञो विशिष्टः

पण्डितेषु गुणाः सर्वे, मूर्खे दोषाश्च केवलम् ।
तस्मान् मूर्ख-सहस्रेषु, प्राज्ञ एको विशिष्यते ॥१४१॥(१२)

मित्रम्

आर्तानामार्ति-सम्बन्धं, प्रीति-विश्राम-कारणम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं, मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥१४२॥(१३)

बुद्धेर्महत्त्वम्

प्रज्ञा-युक्त-शरीरस्य, किं करिष्यन्ति शत्रवः ।
छत्रोपानहयुक्तस्य, वारिधारातपो यथा ॥१४३॥(१४)

अध्याय ८

देवी स्त्री

जो स्त्री सदा स्नान करने वाली, सुगन्ध से युक्त, सदा प्रिय बोलने वाली, मित आहार और मित ही बोलने वाली है, वह स्त्री मानुषी नहीं, देवी है ॥१४०॥(६)

हजारों मूर्खों से एक बुद्धिमान् उत्तम है

पण्डितों में बहुत से गुण होते हैं, मूर्खों में केवल दोष ही दोष होते हैं, अतः सहस्रों मूर्खों के मध्य में एक पण्डित की अधिक विशेषता है ॥१४१॥(१२)

मित्र

पीडितों की पीडा से युक्त, उनकी प्रीति और विश्राम में कारण-भूत, यह दो अक्षर से सम्पन्न 'मित्र' रूपी रत्न किसने रचा है ॥१४२॥(१३)

बुद्धि की महत्ता

बुद्धि से सम्पन्न मनुष्य का शत्रु क्या बिगाड़ सकते हैं। जैसे छाता और जूते वाले मनुष्य की वर्षा और धूप क्या हानि कर सकते हैं ॥१४३॥(१४)

चाणक्य नीतिशास्त्र

विद्या सर्वस्य भूषणम्

नक्षत्रभूषणं चन्द्रो, नारीणां भूषणं पतिः ।
पृथिवीभूषणं राजा, विद्या सर्वस्य भूषणम् ॥१४४॥(६)

मौनं मूर्खशोभा

दूरतः शोभते मूर्खो, लम्ब-शाट-पटावृतः ।
तावच्च शोभते मूर्खो, यावत् किंचिन् न भाषते ॥१४५॥(१३)

के कथं व्यवहर्तव्याः

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, क्रुद्धमञ्जलिकर्मणा ।
मूर्खं छन्दोऽनुवृत्तेन, याथातथ्येन पण्डितम् ॥१४६॥(३१)

कस्य गृहमरण्यम्

माता यस्य गृहे नास्ति, भार्या च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं, यथारण्यं तथा गृहम् ॥१४७॥(४२)

दारिद्र्य-निन्दा

अविद्यं जीवनं शून्यं, दिक् शून्या चेद् अबान्धवा ।
पुत्रहीनं गृहं शून्यं, सर्वशून्या दरिद्रता ॥१४८॥(४५)

को न विनश्यति

कुलीनैः सह सम्पर्कं, पण्डितैः सह मित्रताम् ।
ज्ञातिभिश्च समं मेलं, कुर्वाणो न विनश्यति ॥१४९॥(५६)

दारिद्र्य-निन्दा

कष्टा वृत्तिः पराधीना, कष्टो वासो निराश्रयः ।
निर्धनो व्यवसायश्च, सर्वकष्टा दरिद्रता ॥१५०॥(५७)

सब का भूषण विद्या

चाँद नक्षत्रों का भूषण है, नारियों का भूषण उनका पति है, पृथिवी का भूषण राजा है और विद्या सभी का भूषण है ॥१४४॥ (६)

मूर्ख की शोभा मौन

लम्बी धोती और वस्त्रों को पहिने मूर्ख दूर से ही शोभा देता है। और मूर्ख तभी तक शोभा देता है, जब तक कि कुछ बोलता नहीं ॥१४५॥(१३)

किस से कैसे व्यवहार करना चाहिए ?

लोभी को धन से वश में करना चाहिए, क्रोधी को हाथ जोड़ कर, मूर्ख को उसके अनुकूल रहकर और विद्वान् को सचाई से वश में करना चाहिए ॥१४६॥(३१)

जंगल के समान घर

जिस के घर में माता नहीं और मधुरभाषिणी भार्या नहीं, उसे जंगल में चला जाना चाहिए। उसके लिए जैसा जंगल वैसा ही घर है ॥१४७॥(४२)

दरिद्रता की निन्दा

विद्या से हीन के लिए जीवन शून्य है, बन्धुओं से हीन के लिए दिशाएँ शून्य हैं, पुत्रहीन के लिए घर शून्य है और दरिद्र के लिए सभी कुछ शून्य है ॥१४८॥(४५)

कौन नष्ट नहीं होता ?

कुलीनों से संगत, पण्डितों से मित्रता और ज्ञाति-वर्ग से मेल करता हुआ कभी नष्ट नहीं होता ॥१४९॥(५६)

दारिद्र्य की निन्दा

पराधीन जीविका कष्टमयी है, आश्रयहीन वास दुःखदायक है, धन के विना व्यापार भी कष्ट देने वाला है और दरिद्रता तो सभी कष्टों के देने वाली है ॥१५०॥(५७)

इन्द्रिय-जयः

आपदां कथितः पन्था, इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥१५१॥(७२)

कः कस्य नाशहेतुः

हेला स्यात् कार्य-नाशाय, बुद्धि-नाशाय निर्धनम् ।
याचना मान-नाशाय, कुल-नाशाय भोजनम् ॥१५२॥(८९)

हितोपदेशः

प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये नार्जितं पुण्यं, चतुर्थे किं करिष्यति ॥१५३॥(९१)

कुदेशमासाद्य कुतोऽर्थसंचयः, कुपुत्रमासाद्य कुतो जलाञ्जलिः ।
कुगेहिनीं प्राप्य कुतो गृहे सुखं, कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥१५४॥
(९३)

साधुलक्षणम्

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु, दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां, चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनि ॥१५५॥(A)

शरीरसाफल्यम्

यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्येत, तन्नलब्धं भवेन्नु किम् ॥१५६॥(E)

छात्रकर्त्तव्यम्

भोगार्थी चेत् त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी भोगमुत्सृजेत् ।
भोगार्थिनः कुतो विद्या, भोगो विद्यार्थिनः कुतः ॥१५७॥(M)

इन्द्रिय-जय

इन्द्रियों का संयम न करना विपदाओं का मार्ग कहा है, और इन्द्रियों का जय संपदाओं का मार्ग कहा है। अतः इन दोनों मार्गों में जो प्रिय है, उस पर चलिए ॥१५१॥(७२)

कौन किस का नाश का कारण है?

अवज्ञा—लापरवाही काम के नाश के लिए, निर्धनता बुद्धिनाश के लिए, माँगने की वृत्ति मान के नाश के लिए और (अपमान का) भोजन कुल के नाश के लिए होता है ॥१५२॥(८९)

हितोपदेशः

आयु के प्रथम भाग में विद्या का उपार्जन नहीं किया। आयु के दूसरे भाग में धन नहीं कमाया। आयु के तीसरे भाग में पुण्य का संचय नहीं किया। अब चौथे भाग, अर्थात् वृद्धावस्था में क्या कर सकोगे ॥१५३॥(९१)

बुरे देश में जाकर धन नहीं कमाया जा सकता, कुपुत्र पैदा करके अञ्जलि-भर जल नहीं मिल सकता, कलहिनी स्त्री पाकर घर में सुख कहाँ और बुरे शिष्य को पढ़ाते हुए यश कहां मिल सकता है ॥१५४॥(९३)

साधु की पहिचान

सज्जन पुरुष गुणहीन प्राणियों पर भी दया करते हैं। जैसे चाँद अपनी चाँदनी को चाण्डाल के घर से नहीं हटाता ॥१५५॥ (A)

शरीर की सफलता

यदि इस अनित्य, मलयुक्त काया से नित्य, निर्मल यश मिल जाता है, तो कौन-सा पदार्थ प्राप्त नहीं हुआ? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त हुआ है ॥१५६॥(E)

विद्यार्थी का कर्त्तव्य

भोगों के अभिलाषी को विद्या का विचार छोड़ देना चाहिए, विद्या के इच्छुक को भोगों का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि भोगाभिलाषी को विद्या कहाँ और विद्या के अर्थी को भोग कहाँ ॥१५७॥(M)

विद्यार्जन-प्रकारः

अजरामरवत् प्राज्ञो, विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥१५८॥(X)

साधु-खलयोर्लक्षणानि

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥१५९॥(Z)

विद्या के उपार्जन का प्रकार

अपने-आप को अजर और अमर की तरह समझ कर बुद्धिमान् को विद्या और धन के उपार्जन का चिन्तन करना चाहिए। मृत्यु के द्वारा बालों से पकड़े हुए की तरह अपने-आप को जानकर धर्म का आचरण करना चाहिए ॥१५८॥(X)

सज्जन तथा दुष्ट की पहिचान

दुष्टों के मन, वाणी और कर्म में भिन्नता होती है। महात्माओं के मन, वाणी और कर्म में एकता होती है ॥१५९॥(Z)

चाणक्य-सार-संग्रह

प्रथमं शतकम्

शत्रुविश्वासो नाशहेतुः

वैरिणा सह विश्वासं, यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स वृक्षाग्रेषु संसुप्तः, पतितः प्रतिबुध्यते ।।१६०।।(८)

के कथं हन्यन्ते

अनभ्यासैर्हता विद्या, नित्यहासैर्हताः स्त्रियः ।
कुबीजेन हतं क्षेत्रं, भृत्यदोषैर्हता नृपाः ।।१६१।।(१६)

गुणमहिमा

नहि जन्मनि ज्येष्ठत्वं, ज्येष्ठत्वं गुणमुच्यते ।
गुणाद् गुणान्तरं याति, पयो दधि घृतं यथा ।।१६२।।(४०)

किं कुलेन विशालेन, गुणवान् पूजितो नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि, निर्गुणः किं करिष्यति ।।१६३।।(४१)

नमन्ति फलिनो वृक्षाः, नमन्ति गुणिनो जनाः ।
शुष्कं काष्ठं च मूर्खश्च, भिद्यते न च नम्यते ।।१६४।।(४९)

पुरुष-परीक्षा

यथा हेम परीक्षेत, तप-ताडन-च्छेदनैः ।
तथा पुरुषमप्येवं, कुल-शीलेन कर्मणा ।।१६५।।(७१)

कारणमहिमा

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः ।
कारणादेव जायन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा ।।१६६।।(७७)

नीतिवचनम्

कुतो व्यसनिनो निद्रा, अतृप्तस्य कुतो रतिः ।
कुतः सौख्यं दरिद्रस्य, दुर्जनस्य कुतः क्षमा ।।१६७।।(७९)

शतक १

नाश का कारण शत्रु से विश्वास

जो मनुष्य वैरी पर विश्वास करना चाहता है, वह वृक्ष की शाखाओं पर सोता है और गिर कर ही जागता है ।।१६०।।(८)

किन का कैसे नाश होता है

अभ्यास के विना विद्या नष्ट हो जाती है। सदा हँसते रहने से स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, बुरे बीज से खेत नष्ट हो जाता है और सेवकों के दोष से राजा नष्ट हो जाता है ।।१६१।। (१६)

गुणों की महिमा

जन्म में बड़प्पन नहीं, अपितु गुणों में ही बड़प्पन कहा है। गुण से दूसरे गुणों को मनुष्य प्राप्त होता है, जैसे दूध से गुणान्तर को दही प्राप्त होता है और दही से घी अधिक दूसरे गुण को प्राप्त कर लेता है ।।१६२।।(४०)

विशाल कुल कोई लाभकारी नहीं, गुणवान् ही मनुष्य पूजा जाता है। अच्छे ठोस बांस से बना हुआ धनुष यदि गुण (डोरी) के विना है, तो वह धनुष क्या कर सकता है ।।१६३।।(४१)

फलयुक्त वृक्ष झुक जाते हैं, गुणी लोग नम्र हो जाते हैं। सूखा काठ और मूर्ख टूट जाते हैं, परन्तु झुकते नहीं ।।१६४।।(४९)

पुरुष की परीक्षा के साधन

जैसे तपाने, पीटने और काटने से सोने की परीक्षा की जाती है, वैसे ही कुल के शील और कर्म से मनुष्य की पहिचान होती है ।।१६५।।(७१)

कारण की महिमा

कोई किसी का मित्र नहीं, और कोई किसी का शत्रु नहीं। कारणों से लोग मित्र तथा शत्रु बन जाते हैं ।।१६६।।(७७)

नीति-वचन

व्यसनी को नींद कहाँ, लोभी को संतोष कहाँ, दरिद्र को सुख कहाँ और दुर्जन को क्षमा कहाँ होती है ? अर्थात् उपर्युक्त बातें उपर्युक्तों में नहीं होतीं ।।१६७।।(७९)

मित्र-दर्शनम्

व्याधितस्यार्थ-हीनस्य, शत्रुभिस्त्रासितस्य च।
हृदये शोक-दग्धस्य, सुहृद्-दर्शनमौषधम् ॥१६८॥(८३)

अतिथिमहिमा

उत्तमस्यापि वर्णस्य, नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथान्यायं, सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१६९॥(९०)

आचार-प्रशंसा

आचारः फलते धर्मम्, आचारः फलते धनम्।
आचारात् फलमाप्नोति, आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१७०॥(९३)

के कथं हन्यन्ते

सदम्भश्च हतो धर्मः, क्रोधेनैव हतं तपः।
अदृढं च हतं ज्ञानं, प्रमादेन हतं श्रुतम् ॥१७१॥(९६)

द्वितीयं शतकम्

केषां कानि चक्षूषि ?

शास्त्रार्थं चक्षुषो विद्वान्, नरेन्द्रा नीतिचक्षुषाः।
वेदार्थचक्षुषा विप्रा, इतरे चार्थचक्षुषाः ॥१७२॥(१)

जिह्वाकार्यम्

हे जिह्वे कटुकस्नेहे, मधुरं किं न भाषसे।
मधुरं वद कल्याणि, लोकोऽयं मधुरप्रियः ॥१७३॥(११)

चिन्तनविषयः

कः कालः कानि मित्राणि, को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिर्, इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥१७४॥(२०)

लघुत्वे हेतुः

यो यत्र नित्यमायाति, भुंक्ते चापि दिने दिने।
स तत्र लघुतां याति, यदि शक्तिसमो नरः ॥१७५॥(३९)

मित्र का दर्शन

रोगी, धनहीन, शत्रु से भयभीत और शोकातुर मनुष्य को मित्र का दर्शन औषध के समान होता है ।।१६८।।(८३)

अतिथि की महिमा

उत्तम पुरुष के घर में यदि निम्नकोटि का भी मनुष्य आ जाता है, तो व्यवस्था के अनुसार वह पूजनीय है। क्योंकि अभ्यागत सब का पूजनीय होता है ।।१६९।।(९०)

सदाचार की प्रशंसा

सदाचार का ही फल धर्म है, सदाचार का ही फल धन है। सदाचार से ही शुभ फल मिलता है। सदाचार सभी बुराई का नाश कर देता है ।।१७०।।(९३)

किन का कैसे नाश होता है ?

कपट से धर्म नष्ट हो जाता है, क्रोध से तप नष्ट हो जाता है, अपरिपक्व ज्ञान भी नष्ट हो जाता है और प्रमाद से पढ़ा-सुना नष्ट हो जाता है ।।१७१।।(९६)

शतक २

किन के कौन-से नेत्र हैं

शास्त्र के तात्पर्य को जानना विद्वान् के नेत्र हैं, राजाओं की आँखें नीति हैं; ऋत्विजों की आँखें वेद का अर्थ हैं और अन्य सर्व-साधारण पुरुषों की धन आँखें हैं ।।१७२।।(१)

जिह्वा का कार्य

कडुआ और मधुर भाषण करने वाली हे जिह्वा, तू मधुर क्यों नहीं बोलती ? हे कल्याण करने वाली, तू मधुर बोल, क्योंकि यह दुनिया मधुरता की प्यारी है ।।१७३।।(११)

चिन्तन का विषय

बार-बार इस बात का चिन्तन करना चाहिए कि कौन-सा समय है ?, कौन-से मित्र हैं ?, कौन-सा देश है ? मेरी आय और व्यय क्या हैं? मैं कौन हूँ और मेरी कितनी शक्ति है ?।।१७४।।(२०)

लघुता में कारण

यद्यपि वह मनुष्य शक्ति में उसके समान है। तो भी वह जिसके घर में सदा आता है और प्रतिदिन वहाँ खाता है, वह वहां लघु बन जाता है ।।१७५।।(३९)

कस्य सदोत्सवः

सुभिक्षं कृषके नित्यं, सुखं नित्यमरोगिणि ।
भार्या भर्तुर्वशा यस्य, तस्य नित्योत्सवं गृहम् ॥१७६॥(४६)

सुख-दुःखयोर्लक्षणम्

सर्वं पर-वशं दुःखं, सर्वमात्म-वशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन, लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥१७७॥(४७)

चक्रतुल्यौ सुखदुःखौ

सुखस्यानन्तरं दुःखं, दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां, चक्रवत् परिवर्ततः ॥१७८॥(४८)

सत्संगतिः

उत्तमैः सह संगेन, को न याति समुन्नतिम् ।
मूर्ध्ना तृणानि धार्यन्ते, ग्रथितैः कुसुमैः सह ॥१७९॥(५२)

सर्वत्र गुणदोषौ

दोषोऽप्यस्ति गुणोऽप्यस्ति, निर्गुणेष्वपि जन्तुषु ।
सुकुमारस्य पद्मस्य, नालो भवति कर्कशः ॥१८०॥(६४)

किं कस्य प्रयोजनम्

पुत्र-प्रयोजना भार्या, पुत्रः पिण्ड-प्रयोजनः ।
हित-प्रयोजनं मित्रं, सर्वमात्म-प्रयोजनम् ॥१८१॥(७३)

युक्तमेव वचनं ग्राह्यम्

शत्रोरपि गुणा वाच्याः, दोषा वाच्या गुरोरपि ।
युक्तायुक्त-वचो ग्राह्याः, न वचो गुरु-गौरवात् ॥१८२॥(९७)

तृतीयं शतकम्

कालमहिमा

कालात् प्ररोहते बीजं, फलं कालात् प्रवर्तते ।
कालो हि वर्तयेत सृष्टिं, पुनः कालो हि संहरते ॥१८३॥(३)

किस के यहाँ सदा उत्सव है ?

किसान को सदा सुकाल है (अन्न की प्राप्ति सुगम है), नीरोग को सदा सुख है। जिसकी स्त्री भर्ता के अनुकूल है, उसके घर में सदा उत्सव रहता है ॥१७६॥(४६)

सुख-दुःख का लक्षण

पराधीन सभी-कुछ दुःखमय है, स्वाधीन सभी-कुछ सुख है। यही सुख-दुःख का संक्षेप से लक्षण समझना चाहिए ॥१७७॥(४७)

सुख-दुःख चक्र के समान

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख—इस प्रकार मनुष्यों के सुख-दुःख रथ के चक्र की भान्ति घूमते हैं ॥१७८॥(४८)

सत्संग

उत्तम पुरुषों की संगति से कौन उन्नति को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उन्नत नहीं होता। जैसे गुंथे हुए फूलों के साथ तिनके भी सिरों पर धारण कर लिए जाते हैं ॥१७९॥(५२)

सब जगह पर गुण तथा दोष

अनुपयोगी प्राणियों में दोष भी होता है और गुण भी। जैसे अत्यन्त सुकोमल कमल के फूल का नाल कठोर होता है ॥१८०॥(६४)

किस का क्या प्रयोजन है

संतान के लिए भार्या, पिता की अन्न से सेवा करने के लिए पुत्र और हित करने के लिए मित्र होता है। परन्तु अपने हित के लिए सभी-कुछ हुआ करता है ॥१८१॥(७३)

युक्त वचन ही ग्रहण करना चाहिए

शत्रु के भी गुणों का कथन करना चाहिए, गुरु के भी दोष कहने उचित हैं। युक्त तथा अयुक्त वचन को देखकर युक्त वचन का ही ग्रहण करना चाहिए। केवल बड़े के गौरव से उसका वचन ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१८२॥(९७)

शतक ३

काल की महिमा

समय पर ही बीज उगता है, समय पर ही फल लगता है। समय ही सृष्टि की प्रवृत्ति करता है और समय ही संहार करता है ॥१८३॥(३)

कुत्र कथं व्यवहर्तव्यम्

पर-कार्येषु युक्तात्मा, स्वकार्ये क्षिप्र-साधनम् ।
सुहृत्कार्येषु निर्वृती, राज-कार्येषु विक्रमः ।।१८४।। (२०)

साधुखलयोः कर्मभेदः

जल-लेखेव नीचानां, यत्कृतं तन्न दृश्यते ।
अत्यल्पमपि साधूनां, शिला-लेखेव तिष्ठति ।।१८५।। (२१)

धूर्तलक्षणम्

मुखं पद्मदलाकारं, वाचा चन्दनशीतलम् ।
हृदयं कर्त्रीसंयुक्तं, त्रिविधं धूर्त-लक्षणम् ।।१८६।। (२७)

विद्यायुक्तोऽपि दुर्जनः परिहार्यः

दुर्जनः परिहर्तव्यः, शास्त्रेणालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः, किमसौ न भयंकरः ।।१८७।। (३५)

दोषाणां दूरतः परित्यागः

रहस्य-भेदं पैशुन्यं, पर-दोषानुकीर्तनम् ।
पारुष्यं कलहं चैव, दूरतः परिवर्जयेत् ।।१८८।। (४३)

प्रीत्यर्थं त्रीणि वर्ज्यानि

यदीच्छेच्छाश्वतीं प्रीतिं, त्रीणि तत्र न कारयेत् ।
द्यूतमर्थ-प्रयोगं च, परोक्षे दार-दर्शनम् ।।१८९।। (५०)

नीतिवाक्यम्

कुमित्रे नास्ति विश्वासः, कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये नास्ति निर्वृतिः, कुदेशे नास्ति जीवितम् ।।१९०।। (५३)

केषां शेषो हानिकरः

ऋण-शेषोऽग्नि-शेषश्च, व्याधि-शेषस्तथैव च ।
पुनश्च वर्धते यस्मात्, तस्माच्छेषं न कारयेत् ।।१९१।। (५८)

कहां कैसे व्यवहार करना चाहिए

दूसरे के कामों में पूरे मन से लगना चाहिए। अपने काम में जल्दी सफलता प्राप्त करनी उचित है, मित्र के कामों में संतुष्टि और राज्य के कामों में वीरता को अपनाना चाहिए ॥१८४॥(२०)

दुष्ट तथा साधु के कर्म में अन्तर

नीच पुरुषों के काम पानी की लकीर की भान्ति (थोड़ी देर के लिए) दिखाई देते हैं, परन्तु सज्जनों के छोटे-छोटे काम भी पत्थर की लकीर की तरह (न मिटने वाले) दिखाई देते हैं ॥१८५॥(२१)

धूर्त की पहिचान

धूर्त पुरुषों का उत्तरोक्त तीन प्रकार का स्वरूप होता है—१. मुख कमल के समान सुन्दर, २. वाणी चन्दन के तुल्य शीतल और ३. हृदय कैंची के समान काटने वाला ॥१८६॥(२७)

विद्वान् दुर्जन भी परिहार्य

शास्त्र से सुभूषित अर्थात् पढ़े-लिखे दुर्जन का परित्याग कर देना उचित है। मणि से अलंकृत हुआ भी साँप क्या भय-प्रद नहीं होता ॥१८७॥(३५)

दोषों का सर्वथा परित्याग

उत्तरोक्त बातों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए—किसी के रहस्य को प्रकट करना, निरर्थक बुराई का करना, दूसरे के दोषों का कीर्तन, कठोरता और झगड़ा ॥१८८॥(४३)

प्रीति के लिए तीन बातें त्याग योग्य

यदि आप किसी से स्थिर प्रेम करना चाहते हैं, तो वहां तीन बातों को मत कीजिए—१. जुआ, २. धन का लेन-देन और ३. परोक्ष में उसके स्त्री-वर्ग के दर्शन ॥१८९॥(५०)

नीति-वचन

नीच मित्र में विश्वास नहीं होता, दुष्टा भार्या में प्रसन्नता नहीं होती, बुरे राज्य में शान्ति नहीं मिलती और बुरे देश में जीवन का निर्वाह नहीं होता ॥१९०॥(५३)

किन का शेष हानिकर है

ऋण का शेष, आग का शेष और रोग का शेष नहीं रहने देना चाहिए। क्योंकि यह बचा हुआ फिर बढ़ जाता है ॥१९१॥(५८)

दुष्टस्य राज्ञो निन्दा

यत्र राजा स्वयं चौरः, समन्त्री सपुरोहितः ।
तत्राहं किं करिष्यामि, यतो रक्षा ततो भयम् ॥१९२॥(६९)

किं भूषणम्

हस्तस्य भूषणं दानं, सत्यं कण्ठस्य भूषणम् ।
श्रुतं च भूषणं कर्णे, भूषणैः किं प्रयोजनम् ॥१९३॥(७५)

कः कथं शोभते

शोभते सलिले पद्मं, शोभते ज्ञानतो द्विजः ।
शोभते तापसो युक्तो, व्रणं शूरस्य शोभते ॥१९४॥(८६)

पञ्च क्षिप्रं नाशयोग्याः

पञ्च क्षिप्रं विनश्यन्ति, स्तब्धो लुब्धश्च यो नरः ।
अभिमानी च कामी च, गुरु-द्वेषी तथैव च ॥१९५॥(९८)

दुष्ट राजा की निन्दा

जहाँ पुरोहित और मंत्री समेत राजा स्वयं चोर हो, वहाँ मैं क्या कर सकता हूँ, क्योंकि जिससे रक्षा होनी है, उसी से ही भीति हो रही है ॥१९२॥(६९)

भूषण कौन-सा है ?

हाथ का गहना दान है, कण्ठ का भूषण सत्य है, कानों का भूषण शुभ सुनना है, (यदि यह सब-कुछ है) तो दूसरे भूषणों से क्या लाभ है ॥१९३॥(७५)

कौन कैसे शोभा देता है ?

कमल जल में शोभा पाता है, ब्राह्मण ज्ञान से शोभा पाता है, तपस्वी संयम से और शूरवीर युद्ध के व्रणों से सुशोभित होता है ॥१९४॥(८६)

पांच जल्दी नाश के योग्य

उत्तरोक्त पांच जल्दी नष्ट हो जाते हैं—१. जो पुरुष दुराग्रही, और २. लोभी है, ३. अभिमानी, ४. कामी और ५. बड़ों का द्वेषी है ॥१९५॥(९८)

लघु चाणक्य

प्रथमोऽध्यायः

अहितकरं श्रुतम्

श्रुतं यन्न विरागाय, न धर्माय न शान्तये ।
किं तेन पठितेनापि, काकभाषितमेव तत् ॥१९६॥ (६)

महतामाश्रयः

सेवितव्यो महान् वृक्षः, फल-छाया-समन्वितः ।
यदि दैवात् फलं नास्ति, छाया केन निवार्यते ॥१९७॥ (१०)

द्वितीयोऽध्यायः

क्षमा-महत्त्वम्

क्षमा धनुः करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति ॥१९८॥ (४)

बुद्धेर्महत्त्वम्

बुद्धि-बोध्यानि शास्त्राणि, नाबुद्धः शास्त्रबोधकः ।
प्रत्यक्षे च कृते दीपे, चक्षुर्हीनो न पश्यति ॥१९९॥ (६)

क्रियाया महत्त्वम्

पठकः पाठकश्चैव, ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खाः, यः क्रियावान् स पण्डितः ॥२००॥ (८)

नाश-कारणानि

केचिदज्ञानतो नष्टाः, केचिन् नष्टाः प्रमादतः ।
केचिज् ज्ञानावलेपेन, केचिन् नष्टैस्तु नाशिताः ॥२०१॥ (११)

अध्याय १

अहितकारी श्रुत

जो सुना हुआ प्रवचन अनासक्ति, धर्म और शांति के देने वाला नहीं है, उस प्रवचन से कोई लाभ नहीं है, वह तो केवल कौए के वचन के समान निरर्थक है ।।१९६।।(६)

महान् का आश्रय

फल और छाया वाले महान् वृक्ष का आश्रय लेना उचित है। यदि काल-प्रभाव से फल का समय नहीं है, तो छाया को कौन हटा सकता है?।।१९७।।(१०)

अध्याय २

क्षमा की महिमा

जिसके हाथ में क्षमारूपी धनुष है, दुर्जन उसका क्या बिगाड़ सकता है। जैसे तिनकों से रहित भूमि पर पड़ी आग स्वयमेव शान्त हो जाती है ।।१९८।।(४)

बुद्धि की महिमा

शास्त्र बुद्धि-गम्य हैं, अतः बुद्धि-हीन शास्त्र को नहीं जान पाता। जैसे नेत्र-हीन के सामने दीपक के रख देने पर भी वह देख नहीं पाता ।।१९९।। (६)

करने की महिमा

पढ़ने वाला, पढ़ाने वाला और इनके अतिरिक्त शास्त्र के चिन्तन (ऊहापोह) में रत—ये सभी इनके व्यसनों में पड़े हुए मूर्ख हैं, वास्तव में जो कर्मशील है, वही पण्डित है ।।२००।।(८)

नाश के कारण

कई एक व्यक्ति अज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, कई एक प्रमाद के कारण और कुछ-एक ज्ञान के अभिमान से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु कई-एक का उपर्युक्त नष्ट मनुष्य ही नाश कर देते हैं ।।२०१।। (११)

तृतीयोऽध्यायः

भावमहत्त्वम्

न देवो विद्यते काष्ठे, न पाषाणे न मृण्मये ।
भावे हि विद्यते देवस्, तस्माद् भावो हि कारणम् ॥२०२॥ (५)

हितोपदेशः

क्षमा तुल्यं तपो नास्ति, न संतोषात् परं सुखम् ।
न च तृष्णा-परो व्याधिर्, न च धर्मो दया-परः ॥२०३॥ (६)

गुणान् पृच्छसि मा रूपं, शीलं पृच्छसि मा कुलम् ।
सिद्धिं पृच्छसि मा विद्यां, भोगं पृच्छसि मा धनम् ॥२०४॥ (९)

चतुर्थोऽध्यायः

के पवित्राः

शुचिर्भूमिगतं तोयं, शुचिर्नारी पतिव्रता ।
शुचिः क्षेमंकरो राजा, संतोषी ब्राह्मणः शुचिः ॥२०५॥ (१)

रक्षणम्

पूर्वाह्णे च कृषिं पश्येत्, मध्याह्ने च गृहं सदा ।
अपराह्णे धनं पश्येत्, पुत्रं पश्येच्च नित्यशः ॥२०६॥ (५)

शीलपरिचयः

यस्य न ज्ञायते शीलं, कुलं विद्या नरस्य च ।
कस्तेन सह विश्वासं, पुमान् गच्छेद् विचक्षणः ॥२०७॥ (१२)

पञ्चमोऽध्यायः

खलप्रीतिर्दुःखदा

यथा वृष्टिः समुद्रेषु, भुक्तस्योपरि भोजनम् ।
एवं प्रीतिः खलैः सार्धम्, उत्पन्नार्थेऽवसीदति ॥२०८॥ (२)

भाव की महिमा

न देवता लकड़ी में है, न पत्थर में और न ही मिट्टी के बने किसी पदार्थ में है। देव तो मनुष्य के भाव अर्थात् श्रद्धा में है। अतः भाव ही वस्तु की सत्ता में कारण है ॥२०२॥(५)

हित का उपदेश

क्षमा बराबर तप नहीं, संतोष से बढ़कर सुख नहीं, तृष्णा से बढ़कर रोग नहीं और भूत-दया से बढ़कर धर्म नहीं है ॥२०३॥(६)

आप गुणों को पूछिए, न कि रूप को, सत् स्वभाव को पूछिए न कि कुल को, जीवन की सफलता को पूछिए, न कि विद्या को और ऐश्वर्य-भोग को पूछिए, धन को न पूछिए ॥२०४॥(९)

अध्याय ४

पवित्र कौन हैं

भूमि के भीतर विद्यमान जल पवित्र होता है। पतिव्रता नारी, प्रजा को सुख देने वाला राजा और संतोष से युक्त विद्वान् पवित्र होता है ॥२०५॥(१)

रक्षा

दिन के पूर्वकाल में खेती की देख-भाल करनी चाहिए, दोपहर के समय सदा घर की, दिन के उत्तरकाल में धन की और दिन-रात अर्थात् नित्य पुत्र की देख-भाल करनी चाहिए ॥२०६॥(५)

शील-ज्ञान

जिस पुरुष का स्वभाव, कुल और विद्या का पता नहीं है। कौन बुद्धिमान् उपर्युक्त पुरुष पर विश्वास कर सकता है ॥२०७॥(१२)

अध्याय ५

दुष्टों की प्रीति दुःखदायक

जैसे समुद्र में वर्षा और खा लेने पर फिर भोजन निरर्थक होता है, इसी प्रकार दुष्टों से की हुई मैत्री काम पड़ने पर टूट जाती है, अर्थात् निरर्थक हो जाती है ॥२०८॥(२)

कीदृशे निरर्थके विद्याधने

पुस्तकेषु च या विद्या, पर-हस्तेषु यद् धनम् ।
समुत्पन्नेषु कार्येषु, न सा विद्या न तद् धनम् ।।२०९।। (३)

पिशुननिन्दा

मा गाः पिशुनविस्रम्भं, चिरकालेऽपि संस्थितः ।
चिरकालं पोषितोऽपि, दशत्येव भुजङ्गमः ।।२१०।। (५)

द्विजिह्वमुद्वेगकरं, क्रूरमेकान्त-दारुणम् ।
खलस्याहेश्च वदनम्, अपकाराय केवलम् ।।२११।। (७)

खलः सर्षपमात्राणि, परछिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो विल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यति ।।२१२।। (८)

षष्ठोऽध्यायः

प्रजानाशहेतवः

सिंहरूपेण राजानो, व्याघ्ररूपेण मंत्रिणः ।
भृत्याश्च गृध्ररूपेण, क्षयं यास्यन्ति वै प्रजाः ।।२१३।। (१)

आदरणीयाः स्त्रियः

शूराश्च कृतविद्याश्च, रूपवत्यश्च याः स्त्रियः ।
यत्र यत्र गमिष्यन्ति, तत्र तत्र कृतादराः ।।२१४।। (८)

विद्वत्वनृपत्वयोर्भेदः

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च, नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।२१५।। (९)

सप्तमोऽध्यायः

विद्याप्रशंसा

किं कुलेन विशालेन, विद्याहीनस्य देहिनः ।
अकुलीनोऽपि शास्त्रज्ञो, दैवतैरपि पूज्यते ।।२१६।। (१)

कौन-से विद्या और धन निरर्थक हैं ?

जो विद्या केवल पुस्तकों में है, जो धन दूसरे के हाथों में है, कार्य के आ पड़ने पर न वह विद्या विद्या है और न वह धन धन है। अर्थात् दोनों निष्प्रयोजन हैं ॥२०९॥ (३)

चुगलखोर की निन्दा

चिरकाल से भी पास रहने वाले निन्दक का विश्वास मत कीजिए। बहुत देर तक (दूध से) पुष्ट किया हुआ भी साँप काट लेता है ॥२१०॥ (५)

दो जुबानों वाले, भीति को उत्पन्न करने वाले कठोर निर्दय साँप और दुष्ट का मुख केवल बुराई के लिए है ॥२११॥ (७)

दूसरों के राई के तुल्य छोटे-से दोष को भी दुष्ट देख लेता है, परन्तु बिल्व के फल जितने बड़े अपने दोषों को वह नहीं देख पाता ॥२१२॥ (८)

अध्याय ६

प्रजा के नाश के कारण

जब राजा सिंह के समान, मंत्री भेड़िए के तुल्य और राजसेवक गीधों के सदृश होते हैं, तब प्रजाएँ अवश्य नष्ट हो जाती हैं ॥२१३॥ (१)

आदरणीय स्त्रियां

वीरता संपन्न, विद्वान् और रूपवती स्त्रियाँ जहाँ-जहाँ जाएँगे, वहाँ-वहाँ उनका आदर होगा ॥२१४॥ (८)

विद्वत्ता और राज्यत्व का भेद

विद्वत्ता और राज्य ये दोनों कभी तुल्य नहीं होते। राजा अपने देश में पूजा जाता है, परन्तु विद्वान् का आदर सब जगह होता है ॥२१५॥ (९)

अध्याय ७

विद्या की प्रशंसा

मनुष्य के विद्याहीन विशाल कुल से भी क्या लाभ है ? शास्त्र का ज्ञाता यदि नीच कुल का भी है, तो वह देवताओं से भी पूजा जाता है ॥२१६॥ (१)

गुणप्रशंसा

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं, दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकी-गन्धमाघ्राय, स्वयं गच्छति षट्पदः ॥२१७॥ (२)

सुपुत्रप्रशंसा

एकेनापि सुपुत्रेण, विद्यायुक्तेन साधुना ।
कुलमुज्ज्वलतां याति, चन्द्रेण गगनं यथा ॥२१८॥ (३)

पुरुषार्थप्रशंसा

नात्युच्चशिखरो मेरुर्, नाति नीचं रसातलम् ।
व्यवसाय-सहायानां, नातिपारो महोदधिः ॥२१९॥ (९)

गुरुमहत्त्वम्

एकमप्यक्षरं यस्तु, गुरुः शिष्यं निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं, यद् दत्त्वा चानृणी भवेत् ॥२२०॥
(१२)

अष्टमोऽध्यायः

विद्याप्रशंसा

धनहीनो न हीनस्तु, धनं वा कस्य निश्चलम् ।
विद्याज्ञानेन यो हीनः, स हीनः सर्ववस्तुषु ॥२२१॥ (२)

कर्मभोगः

सुखस्य दुःखस्य न मेऽस्ति दातृता, परो ददातीति कुबुद्धिरेव सा ।
पुरा कृतं कर्म तदेव भुज्यते, शरीर हे, निस्तर यत् त्वया कृतम्॥२२२॥
(५)

पृथिवीभूषणम्

अप्रियवचनदरिद्रैः, प्रियवचनाढ्यैः, स्वदारपरितुष्टैः ।
पर-परिवादनिवृत्तैः, क्वचित् क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥२२३॥
(B)

गुणों की प्रशंसा

सज्जनों के दूर रहते भी उनके गुण पुरोगामी दूत बन जाते हैं। अर्थात् गुणों से आकृष्ट लोग वहाँ पहुँच जाते हैं। जैसे केवड़े के गंध को सूँघकर भँवरा स्वयं उस फूल के पास पहुँच जाता है ॥२१७॥(२)

सुपुत्र की प्रशंसा

विद्वान्, सच्चरित्र एक पुत्र से भी कुल उज्ज्वल हो जाता है। जैसे अकेले चाँद से आकाश शोभायमान हो जाता है ॥२१८॥(३)

पुरुषार्थ की प्रशंसा

कर्मशीलता जिन मनुष्यों की सहायक है, उनके लिए मेरु पर्वत की चोटियाँ बहुत ऊँची नहीं, भूमि का तल बहुत नीचा नहीं और समुद्र का परला किनारा बहुत दूर नहीं ॥२१९॥(९)

गुरु का महत्त्व

गुरु शिष्य को यदि एक भी अक्षर पढ़ा देता है, तो दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसको देकर शिष्य उऋण हो सकता है ॥२२०॥(१२)

अध्याय ८

विद्या की प्रशंसा

जो धन से हीन है, वह हीन नहीं, धन किसके पास सदा स्थिर रहता है। जो विद्या के ज्ञान से हीन है, वही सभी पदार्थों से हीन है ॥२२१॥(२)

कर्म का भोग

मुझे सुख तथा दुःख के देने वाला कोई नहीं, कोई दूसरा मुझे दुःख देता है, यह विचार बुरा है। जो कर्म मैंने किए हैं, उन्हीं का ही उपभोग कर रहा हूँ। इसलिए हे शरीर, जो कुछ तुम ने किया है, उसका ही उपभोग कर ॥२२२॥(५)

पृथिवी के भूषण

कहीं-कहीं पृथिवी उत्तरोक्त पुरुषों से समलंकृत हो रही है—जिन के पास कुवचनों की दरिद्रता है; जो कि प्रियवचनों से धनवान् हैं; अपनी पत्नी से ही संतुष्ठ हैं और दूसरों की निन्दा से विमुख हैं ॥२२३॥(B)

के किमिच्छन्ति

मक्षिका व्रणमिच्छन्ति, धनमिच्छन्ति पार्थिवाः।
नीचाः कलहमिच्छन्ति, शान्तिमिच्छन्ति साधवः ॥२२४॥ (F)

शीलं सर्वस्य भूषणम्

धीराणां भूषणं विद्या, मन्त्रिणो राजभूषणम्।
भूषणं च पतिः स्त्रीणां, शीलं सर्वस्य भूषणम् ॥२२५॥ (G)

पुरुषार्थप्रशंसा

उद्यमस्य प्रसादेन, दृश्यन्ते विविधाः कलाः।
कातरा एव जल्पन्ति, यद् भाव्यं तद् भविष्यति ॥२२६॥ (H)

विद्याप्रशंसा

विद्या प्रशस्यते लोके, पूज्यते चोत्तमैः सदा।
विद्या मूलं शरीरस्य, पवित्रं सर्वदा स्थितम् ॥२२७॥ (I)

व्याधि-पाप-दुःखानां कारणानि

लोभ-मूलानि पापानि, रस-मूलाश्च व्याधयः।
स्नेह-मूलानि दुःखानि, त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥२२८॥ (K)

सुपुत्र-प्रशंसा

एकोऽपि गुणवान् पुत्रो, मा निर्गुणशतं भवेत्।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च ताराः सहस्रशः ॥२२९॥ (O)

कौन क्या चाहते हैं ?

मक्खियाँ व्रण की इच्छा करती हैं, राजा धन की इच्छा करते हैं, नीच झगड़ा करना चाहते हैं और सज्जन शांति बनाए रखना चाहते हैं ॥२२४॥(F)

सब का भूषण शील है

धीर पुरुषों का भूषण विद्या है, राजाओं का भूषण उनके मन्त्री हैं, स्त्रियों का भूषण उनके पति हैं और सभी का भूषण सच्चरित्र है ॥२२५॥(G)

पुरुषार्थ की प्रशंसा

पुरुषार्थ की कृपा से अनेक प्रकार की कलाएँ उद्भूत होती हैं। 'जो होना है वही होगा' ऐसा कायर—काम करने से डरने वाले= ही कहते फिरते हैं ॥२२६॥(H)

विद्या की प्रशंसा

विद्या की लोक में प्रशंसा होती है, विद्वान् की ही सज्जन पूजा करते हैं। शरीर के धारण का मूल कारण विद्या ही है। विद्या पवित्र है और सदा रहती है ॥२२७॥(I)

व्याधि, पाप और दुःख के कारण

पापों का मूल लोभ है, रोगों का मूल स्वाद है, दुःखों का मूल आसक्ति है—इन तीनों का परित्याग करके ही मनुष्य सुखी हो सकता है ॥२२८(K)

सुपुत्र की प्रशंसा

पुत्र अकेला भी हो, परन्तु गुणवान् ही होना चाहिए, निर्गुण सैकड़ों की संख्या में भी नहीं होने चाहिएँ। एक चन्द्र अंधकार को छिन्न-भिन्न कर देता है, परन्तु हज़ारों तारे नहीं कर सकते ॥२२९॥(O)

भर्तृहरि

नीतिशतक-संग्रह

अल्पज्ञस्य निन्दा

अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान-लव-दुर्विदग्धं, ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥१॥(३)

प्रसह्यमणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्,
समुद्रमपि संतरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥२॥(४)

मूर्खाणां भूषणम् मौनम्

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा, विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे, विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥३॥(७)

अल्पज्ञ-वर्णनम्

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥४॥(८)

मूर्खस्य नास्त्यौषधम्

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्र-विहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥५॥(११)

अल्पज्ञानी की निन्दा

ज्ञान-हीन पुरुष को सुगमता से समझाया जा सकता है। और विशिष्ट ज्ञानी को तो उससे भी अधिक सुगमता से अनुकूल बनाया जा सकता है। परन्तु अल्पज्ञान से पण्डिताभिमानी पुरुष को तो ब्रह्मा भी अनुकूल नहीं बना सकते ।।१।।(३)

मगरमच्छ के मुख की दाढ़ों के बीच में से बलपूर्वक मणि निकाली जा सकती है; उत्ताल तरङ्गों से विक्रान्त समुद्र में भी तैरा जा सकता है; क्रुद्ध सर्प को फूल के समान सिर पर रखा जा सकता है, परन्तु अल्पज्ञान से अभिमानी मूर्ख के चित्त को अनुकूल बना सकना असम्भव है ।।२।।(४)

मूर्खों का भूषण-मौन

भगवान् ने विद्वज्जनों की समाज में विशेष रूप से मूर्खों द्वारा अपनी मूर्खता को छिपाने के लिए अत्यन्त गुणयुक्त सदा अपने अधीन एक साधन का निर्माण किया है। और वह साधन अज्ञानियों का भूषणरूपी मौन है ।।३।।(७)

अल्पज्ञ का वर्णन

जब मुझे थोड़ा-सा ज्ञान हुआ, तो मैं मदमत्त हाथी की भांति अन्धा हो गया। मेरे मन में यह अहंकार हो गया कि मैं सभी-कुछ जानता हूँ। परन्तु जब मैंने बुद्धिमानों से कुछ-कुछ सीखा, तो 'मैं मूर्ख हूँ' यह जान कर मेरा वह (पूर्ववर्ती) अभिमान ज्वर की भांति उतर गया ।।४।।(८)

मूर्ख की कोई औषध नहीं

जल से अग्नि शांत की जा सकती है; छाते से सूर्य की धूप रोकी जा सकती है; मदमत्त हाथी तीखे अंकुश से और गौ तथा गधा दण्ड से वश में किए जा सकते हैं; औषध-प्रयोग से रोग और मन्त्र-प्रयोग से विष दूर किए जा सकते हैं। (इस प्रकार) शास्त्र में सभी (उपद्रवों) की औषध का विधान किया गया है, परन्तु मूर्ख की कोई औषध नहीं बताई गई ।।५।।(११)

मनुष्यरूपाः पशवः

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥६॥(१३)

विदुषां महत्त्वम्

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत् सर्वदा,
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धि पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनम्,
येषां तान् प्रतिमानमुज्झत नृपाः, कस्तैः सह स्पर्धते ॥७॥(१६)

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थास्,
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।
अभिनव-मदलेखा-श्याम-गण्डस्थलानां,
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥८॥(१७)

सर्वोत्तमं वाग्भूषणम्

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥९॥(१९)

विद्याया महत्त्वम्

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं, प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी, विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतम्,
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं, विद्याविहीनः पशुः ॥१०॥
(२०)

मनुष्यरूपी पशु

जिन में न विद्या, न तप, न दान, न ज्ञान, न सत्स्वभाव, न गुण और न धर्म है, वे पृथिवी पर मानव-समाज में भाररूप हुए मनुष्य की आकृति में पशु होकर विचर रहे हैं ॥६॥ (१३)

विद्वानों की महत्ता

विद्यारूपी धन चोर के द्वारा थोड़ा-सा भी चुराया नहीं जाता, वह सदा कल्याण को पुष्ट करता है, पात्रों को प्रदान करने से सदा बढ़ता है और प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता। वह विद्यारूपी धन जिनके पास है, हे नृप-मण्डल, उन विद्वानों से कौन स्पर्धा कर सकता है, अतः उनके प्रति अपने बड़प्पन का भाव छोड़ दीजिए ॥७॥ (१६)

हे राजन्, परोपकारी विद्वानों का अपमान मत कीजिए। उन्हें तिनके के समान यह क्षुद्र लक्ष्मी अपने कार्यक्रम से विचलित नहीं कर सकती। जैसे नए मद के फूटने पर श्यामल कपोलों वाले हाथियों को बिस (भें) की तारें (तालाब में विचरने से) नहीं रोक पातीं ॥८॥ (१७)

सब से उत्तम वाणी का भूषण

मनुष्य को सुवर्णनिर्मित बाजूबन्द (भुजबन्ध) और चन्द्र के समान उज्ज्वल हार सुशोभित नहीं कर पाते। न ही स्नान, न ही चन्दन का लगाया हुआ लेपन, न ही फूल और न ही विविध भूषाओं से भूषित बाल उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। केवल एक यह वाणी ही पुरुष को सुभूषित करती है, जिस सुसंस्कृत वाणी को वह धारण कर रहा है। अन्य उपर्युक्त भूषण तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु वाणी का भूषण सदा भूषण बना रहता है ॥९॥ (१९)

विद्या की महिमा

विद्या ही मनुष्य का सर्वोपरि सौन्दर्य है, विद्या ही उसका सुगुप्त धन है। विद्या भोग, यश और सुख के देने वाली है। विद्या गुरुओं की भी गुरु है। प्रवास में विद्या बन्धु है। विद्या ही परम देवता है। राजाओं के द्वारा विद्या की ही पूजा होती है, धन की नहीं होती। अतः जो विद्या से हीन है, वह पशु के समान है ॥१०॥ (२०)

सत्संगतिः

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥११॥ (२३)

कवि-प्रशंसा

जयन्ति ते सुकृतिनो, रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये, जरामरण-जं भयम् ॥१२॥ (२४)

कल्याणमार्गः

प्राणाघातान्निवृत्तिः पर-धन-हरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं, युवति-जनकथा-मूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पः,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥१३॥
(२६)

उत्तमाधममध्यमानां लक्षणानि

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥१४॥ (२७)

सज्जन-चरितम्

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१५॥ (२८)

सज्जनों की संगति

सत्संग बुद्धि की जड़ता का नाश करता है, वाणी को सत्य से युक्त करता है, मान तथा प्रगति का सूचक है, पाप को परे हटाता है, चित्त को निर्मल करता है और दिशाओं में कीर्ति को फैलाता है। अतः बताइए सत्संगति मनुष्यों के लिए क्या-क्या नहीं कर पाती ? ॥११॥ (२३)

कवि की प्रशंसा

वे पुण्यशाली सरस कवीश्वर सदा शिरः-स्थानीय रहते हैं, जिन के यशरूपी शरीर को जीर्णता और नाश का भय नहीं होता ॥१२॥ (२४)

कल्याण का मार्ग

पर-प्राण-हानि से पृथक्ता, पर-धन के अपहरण से निवृत्ति, सत्य-कथन समय पर शक्ति के अनुसार देना, पर-स्त्री-सम्बन्धी चर्चा में मौन, तृष्णा के वेग को रोकना, गुरुओं में नम्रभाव, सभी प्राणियों पर करुणा का भाव—यह उपर्युक्त मार्ग सभी शास्त्रों से सम्मत है, तथा कल्याण का मार्ग है ॥१३॥ (२६)

उत्तम, मध्यम तथा अधम की पहिचान

अधम पुरुष विघ्नों के भय से कार्य आरम्भ नहीं करते। मध्यम जन कार्य को आरम्भ करके विघ्नों से आहत होकर कार्य को छोड़ देते हैं। उत्तम पुरुष कार्य को आरम्भ करके विघ्नों से आहत हुए भी कार्य को छोड़ते नहीं, प्रत्युत कार्य की समाप्ति करते हैं ॥१४॥ (२७)

सज्जनों का चरित्र

दुष्टों से मांगना नहीं चाहिए, धन-क्षीण मित्र से भी मांगना उचित नहीं, न्याय-वृत्ति में रुचि रखना, प्राण-नाश के भय से भी कलुषित कर्म में अप्रवृत्ति, विपदा के समय में भी पूर्ववत् स्थिति, बड़ों के पद-चिह्नों का अनुगमन—इस उपर्युक्त तीखी तलवार की धार पर चलने के सदृश सज्जनों के कठोर मार्ग का किसने विधान किया है, अर्थात् किसी ने नहीं किया, वे स्वयं ही इस पथ पर चलते हैं ॥१५॥ (२८)

को जातः सफलः

परिवर्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ॥१६॥(३२)

मनस्विनो द्वे वृत्ती

कुसुमस्तबकस्येव, द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य, शीर्यते वन एव वा ॥१७॥(३३)

तेजस्वी पुरुषः

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥१८॥(३७)

बलिनां स्वभावः

सिंहः शिशुरपि निपतति, मद-मलिन-कपोल-भित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां, न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥१९॥(३८)

कः कथं नश्यति

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति, यतिः सङ्गात् सुतो लालनाद्,
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः, स्नेहः प्रवासाश्रयात्,
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागात् प्रमादाद् धनम् ॥२०॥(४२)

धनस्य त्रिविधा गतिः

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥२१॥(४३)

कौन सफल है ?

(रथ-चक्र के समान) परिवर्तनशील इस संसार में कौन मरा हुआ फिर पैदा नहीं होता, सभी होते हैं। परन्तु वही वास्तव में पैदा हुआ है, जिसके कारण वंश गौरव को प्राप्त होता है ॥१६॥ (३२)

मनस्वी की दो दशाएँ

फूलों के गुच्छे (गुञ्चे) के समान मनस्वी पुरुष की दो ही अवस्थाएँ होती हैं—१. या तो वह सर्वसाधारण का शिरोमणि होता है, अथवा २. वह वन में ही मुरझा कर बिखर जाता है ॥१७॥ (३३)

तेजस्वी पुरुष

जैसे जड अग्निदर्पण (आतिशी शीशा) सूर्य के पाँव (रश्मि) से छुआ हुआ,* (क्रोध से) जल उठता है। उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष भी दूसरे से किए हुए अपमान को नहीं सहन करता ॥१८॥ (३७)

बलवानों का स्वभाव

सिंहशावक भी मद-मलिन हाथियों के गण्डस्थलों पर प्रहार करता है। इसी प्रकार प्राणशक्तिसम्पन्न सत्त्वों का यह स्वभाव होता है। आयु का छोटा होना उनके उत्साह के अभाव में कारण नहीं होता ॥१९॥ (३८)

कौन कैसे नष्ट होता है ?

दुर्मन्त्रणा से राजा का, आसक्ति से संन्यासी का, लाड से पुत्र का, न पढ़ने से विप्र का, दुष्ट पुत्र से कुल का, दुष्टों की संगत से सत्-स्वभाव का, सुरा-पान से लज्जा का, देख-भाल के अभाव में खेती का, प्रवास-निवास से स्नेह का, प्रेम के अभाव में मैत्री का, दुष्ट व्यवहार से उत्कर्ष का और प्रमाद तथा वृथा त्याग से धन का नाश हो जाता है ॥२०॥ (४२)

धन की तीन प्रकार की गति

धन की दान, भोग और नाश—ये तीन ही गतियाँ होती हैं ? जो धनी न तो दान करता है और न ही धन का उपभोग करता है, उसके धन की तीसरी गति अर्थात् नाश ही होती है ॥२१॥ (४३)

---

*पाँव से छूने का अर्थ तिरस्कृत होना है।

अवस्थायाः महत्त्वम्

परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये,
स पश्चात् संपूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिनाम्,
अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥२२॥(४५)

प्रजा-रञ्जनम्

राजन्, दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां,
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपुष्यमाणे,
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥२३॥(४६)

याच्ञाया निन्दा

रे रे चातक सावधानमनसा, मित्र क्षणं श्रूयतां,
अम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वे तु नैतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥२४॥(५१)

दुरात्मनां स्वभावः

अकरुणत्वमकारणविग्रहः, परधने परयोषिति च स्पृहा ।
सुजन-बन्धुजनेष्वसहिष्णुता, प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥२५॥
(५२)

क्रोधिनां निन्दा

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भुभुजाम् ।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥२६॥(५७)

अवस्था की महिमा

कभी कोई मनुष्य इतना धनहीन हो जाता है कि वह जौ की एक मुट्ठी के लिए भी तरसता है, परन्तु वही मनुष्य कभी धन-धान्य से पूर्ण हुआ पृथिवी को भी तिनके के समान समझता है। अतः धनिकों के धनों में (पदार्थों) गुरुता तथा लघुता अनिश्चित होने से उनकी ऊँची या नीची अवस्था ही पदार्थों को गुरुता या लघुता प्रदान करती है ॥२२॥(४५)

प्रजा का रञ्जन

हे राजन्, यदि आप इस पृथिवी-रूपी गाय का दूध प्राप्त करना चाहते हैं, तो बछड़े के समान यह जो जनता है, उसे पुष्ट कीजिए। इस जनता के अच्छी प्रकार तथा स्थिर रूप से पुष्ट होने पर ही यह भूमि कल्पलता के समान नानाविध फलों को प्रदान कर देती है ॥२३॥(४६)

याञ्चा की निन्दा

मेघ के जल-बिन्दु को ही पान करने वाले मित्र चातक, थोड़ी देर के लिए सचेत होकर मेरी बात सुनो—आकाश में बहुत से बादल घूमते-फिरते हैं, परन्तु सभी एक जैसे नहीं। इन में से कई तो जल-धाराओं से पृथिवी को आपूरित कर देते हैं, परन्तु इनमें से कई निरर्थक गर्जते हैं, एक बूंद भी जल नहीं गिराते। परन्तु तुम जिस-जिस मेघ-खण्ड को देखते हो, उसी-उसी के आगे जल-प्रार्थना के दीन शब्द मत कहो। अर्थात् पहिचान करके उन्हीं मेघ-खण्डों से माँगो, जो जल-दान करते हैं ॥२४॥(५१)

दुरात्माओं का स्वभाव

दुष्ट पुरुषों का यह प्रकृतिजन्य स्वभाव होता है कि वे निर्दय होते हैं, बिना कारण के झगड़ते हैं, उनकी पर-स्त्री और पर-धन में लालसा होती है, वे बन्धुजनों और सज्जनों को सहन नहीं करते ॥२५॥(५२)

क्रोधियों की निन्दा

अत्युग्र क्रोधसंपन्न राजाओं का कोई भी अपना नहीं होता। अर्थात् सभी उनकी क्रोध की लपेट में आ जाते हैं। जैसे अग्नि में घृत आदि उत्तम पदार्थों की आहुति देने वाले का भी हाथ यदि यज्ञसंभूत अग्नि से छू जाता है, तो वह आग उसके हाथ को जला देती है। आग यह नहीं देखती कि वह तो उसका उत्पादक तथा उत्तम पदार्थों का प्रदान करने वाला है ॥२६॥(५७)

अतिगहना सेवा-वृत्तिः

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा, दूरतश्चाप्रगल्भः ।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥२७॥ (५८)

कीदृशी खल-सज्जनयोर्मैत्री

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्धभिन्ना,
छायेव मैत्री खल-सज्जनानाम् ॥२८॥ (६०)

महतां स्वभावः

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक् पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥२९॥ (६३)

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता,
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयोर्,
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥३०॥ (६५)

संपत्सु महतां चित्तं, भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥३१॥ (६६)

संगत्याः महत्त्वम्

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥३२॥ (६७)

सेवाधर्म अतीव कठिन है

सेवाधर्म वड़ा जटिल है, योगी भी इसका पार नहीं पा सकते—यदि सेवक मौन रहता है, तो वह गूँगा कहा जाता है, यदि बोलने में दक्ष है, तो उसे वाचाल कहते हैं। यदि पास रहता है, तो वह ढीठ है, और यदि दूर रहता है, तो असभ्य है, यदि सह जाता है, तो कायर, यदि सहन नहीं करता, तो अकुलीन है, ऐसा समझा जाता है ।।२७।।(५८)

दुष्टों और सज्जनों की मैत्री का वर्णन

दुष्टों की मैत्री दिन के पूर्वाह्ल की छाया के समान शुरु-शुरु में बहुत बड़ी, परन्तु पीछे क्रम से ह्रास-युक्त होती जाती है, परन्तु सज्जनों की मैत्री दिन के अपराह्ल की छाया के समान आरम्भ में थोड़ी, परन्तु पीछे क्रम से अधिक-अधिक होती जाती है ।।२८।। (६०)

महात्माओं का स्वभाव

विपदा में धीरता, उत्कर्ष में क्षमा, सभा में वाक्-कुशलता, युद्ध में विक्रम, यश में प्रीति और वेद-शास्त्र में रुचि—ये उपर्युक्त स्वभाव महात्मा जनों का प्रकृतिसिद्ध है ।।२९।।(६३)

हाथ में प्रशंसनीय दान का भाव, पूजनीय जनों के पगों पर सिर का झुक जाना, मुख में सच्ची वाणी, भुजाओं में विजयशील अतुल पराक्रम, हृदय में निर्मलता के भाव, और कानों में सदुपदेश का सुनना—ये उपर्युक्त भाव प्रकृति से ही महान् पुरुषों के भूषण होते हैं, जो कि उन्हें धन के विना ही प्राप्त होते हैं ।।३०।। (६५)

महान् पुरुषों का चित्त संपदा की अवस्था में कमल जैसा कोमल होता है, परन्तु विपदा की अवस्था में पर्वतराज की चट्टानों के समान कठोर होता है ।।३१।।(६६)

संगति का महत्त्व

जैसे तपे हुए लोहे पर गिरे हुए जल-कण का नामशेष भी नहीं रहता, वही जल-कण कमल-पत्र पर पड़ा हुआ मोती के समान चमकता है, स्वाति नक्षत्र के उदयकाल में वह जल-कण सागर की सीप में पड़ा हुआ साक्षात् मोती बन जाता है। ऐसे ही अधम, मध्यम और उत्तम पुरुषों के संग से प्रायः मनुष्यों में गुणावगुण आया करते हैं ।।३२।।(६७)

पुत्रकलत्रमित्राणां लक्षणानि

यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रो,
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्,
एतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ।।३३।। (६८)

परोपकारिणां स्वभावः

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः,
नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः,
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।३४।। (७१)

परोपकारमहत्त्वम्

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां, परोपकारैर्न तु चन्दनेन ।।३५।।
(७२)

सन्मित्रलक्षणम्

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यानि गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ।।३६।। (७३)

चतुर्विधाः पुरुषाः

एके सत्पुरुषाः परार्थ-घटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।३७।। (७५)

सन्मैत्री

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः,
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्माकृशानौ हुतः ।

पुत्र, स्त्री तथा मित्र की पहिचान

पुत्र वही है, जो अपने सुकर्मों से पिता को प्रसन्न करता है, पत्नी वही है, जो अपने भर्ता का हित चाहती है। मित्र वही है, जो सुख-दुःख में समान व्यवहार वाला होता है। इन पुत्र, पत्नी और मित्र--तीनों को संसार में पुण्यात्मा जन ही प्राप्त करते हैं ।।३३।।(६८)

परोपकारियों का स्वभाव

फलों के उद्‌गम पर वृक्ष झुक जाते हैं। नये-नये जलों से संपन्न मेघ अधिक नीचे होते जाते हैं। समृद्धि के होने पर सज्जन पुरुष विनीत हो जाते हैं—परोपकारियों का ऐसा ही तो स्वभाव होता है ।।३४।।(७१)

परोपकार की महिमा

कान कुण्डलों से सुशोभित नहीं होते, प्रत्युत सदुपदेश के श्रवण से सुशोभित होते हैं। हाथ कङ्कण से नहीं, प्रत्युत दान से अलंकृत होते हैं। दयालु पुरुषों की काया चन्दन से नहीं, प्रत्युत परोपकार से सुभूषित होती है ।।३५।।(७२)

सच्चे मित्र की पहिचान

सज्जन लोग सच्चे मित्र का यह लक्षण बताते हैं कि—वह पाप से हटाता है और हित के कार्यों में लगाता है। मित्र के रहस्यों को छिपाए रखता है, परन्तु गुणों को प्रकट करता है, विपदा के समय अलग नहीं होता और समय पर सहायता देता है ।।३६।।(७३)

चार प्रकार के पुरुष

१. सज्जन वे होते हैं, जो अपने स्वार्थ का परित्याग करके परार्थ को सिद्ध करते हैं। २. सामान्य पुरुष वे होते हैं, जो अपने स्वार्थ को क्षति पहुँचाए विना परार्थ की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं। ३. वे मनुष्य-रूपी राक्षस हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए पर-हित का नाश करते हैं। परन्तु ४. जो निरर्थक ही पर-हित का नाश करते हैं, वे किस गणना में आ सकते हैं—यह हम जानते नहीं ।।३७।।(७५)

सच्ची मित्रता

सज्जन पुरुषों की मैत्री तो उत्तरोक्त प्रकार से होती है—पहले अपने अन्दर मिले हुए जल को दूध ने अपने सभी गुण दे दिए, जब जल ने दूध को (कड़ाही) में तपते हुए देखा, तो (दूध के जलने से पूर्व) जल ने अपने-आप को जलाना शुरु कर दिया। दूध ने भी

गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं,
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥३८॥(७६)

सतां लक्षणानि

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः,
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्,
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयां, एतत् सतां लक्षणम् ॥३९॥(७८)

मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णास्,
त्रिभुवनमुपकार-श्रेणिभिः पूरयन्तः ।
पर-गुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥४०॥(७९)

शीलं परं भूषणम्

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता, शौर्यस्य वाक्-संयमः,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो, वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥४१॥(८३)

धीरस्य लक्षणम्

निन्दन्तु नीति-निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥४२॥(८४)

पुरुषार्थस्तुतिः

आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः, कुर्वाणो नावसीदति ॥४३॥(८६)

अपने मित्र जल को जलने की विपदा में देखा, तो उबल कर अग्नि में गिरने की व्याकुलता दिखाई। परन्तु ऊपर से और जल का छींटा पड़ जाने पर वह उबलता दूध शान्त हो गया। क्योंकि उसे उसका मित्र मिल गया ॥३८॥ (७६)

सज्जनों के लक्षण

तृष्णा को काट दीजिए, क्षमा को प्राप्त कीजिए, अभिमान को छोड़ दीजिए, पाप में लगाव मत रखिए, सत्य बोलिए, सज्जनों के पदचिह्नों पर चलिए, विद्वानों की सेवा कीजिए, मान्यों का मान और पीडितों पर दया कीजिए—ये उपर्युक्त क्रियाएँ सज्जनों के लक्षण हैं ॥३९॥ (७८)

जिनके मन, वचन और शरीर में पुण्यरूपी अमृत भरा हुआ है, जो अपनी उपकार की धाराओं से त्रिलोकी को आपूरित करते हैं, जो दूसरों के अणु परिमाण वाले छोटे-छोटे गुणों को भी सदा अपने हृदय में पर्वतों के समान महान् करके स्थान देते हैं, ऐसे सज्जन संसार में कितने हैं, अर्थात् बहुत थोड़ी संख्या में हैं ॥४०॥ (७९)

परम भूषण शील है

ऐश्वर्य का भूषण सज्जनता, शूरता का भूषण वाणी का संयम, ज्ञान का भूषण शांति, सुने हुए सदुपदेश का भूषण शिक्षा, धन का भूषण सुपात्र में देना, तप का भूषण क्रोध का अभाव, प्रभुता का भूषण क्षमा और धर्म का भूषण निष्कपटता है। परन्तु उपर्युक्त सभी का कारणभूत सच्चरित्र परम भूषण है ॥४१॥ (८३)

धीर की पहिचान

नीतिमान् लोग निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी आए चाहे जहाँ मर्जी हो चली जाए, आज ही मृत्यु हो जाए चाहे अति दीर्घ-काल में हो, परन्तु धीर पुरुष न्याय-मार्ग से एक पग भी इधर-उधर नहीं हटते ॥४२॥ (८४)

पुरुषार्थ

शरीरव्यापी आलस्य मनुष्यों का महान् शत्रु है, और उद्यम के समान मनुष्यों का बन्धु कोई नहीं। अतः कर्मशील कभी दुःखी नहीं होता ॥४३॥ (८६)

सतां लक्षणम्

छिन्नोऽपि रोहति तरुः, क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः, सन्तप्यन्ते न ते विपदा ॥४४॥(८७)

कर्ममहिमा

कर्मायत्तं फलं पुंसां, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं, सुविचार्यैव कुर्वता ॥४५॥(८९)

सत्कार्यस्य महत्त्वम्

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं,
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥४६॥
(९८)

विचार्यैव कर्म कर्त्तव्यम्

गुणवदगुणवद् वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥४७॥(९९)

प्रश्नोत्तरम्

को लाभो गुणिसंगमः, किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः,
का हानिः समयच्युतिर्, निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ।
कः शूरो विजितेन्द्रियः, प्रियतमा काऽनुव्रता, किं धनैर्,
विद्या, किं सुखमप्रवासगमनं, राज्यं किमाज्ञाफलम् ॥४८॥(१०३)

सच्चरित्रलक्षणम्

पातितोऽपि कराघातैर्, उत्पतत्येव कन्दुकः ।
प्रायेण साधुवृत्तानाम्, अस्थायिन्यो विपत्तयः ॥४९॥(१०४)

कटा हुआ वृक्ष फिर उग आता है, कला-हीन चन्द्र भी फिर बढ़ जाता है—ऐसा विचार हृदय में रखते हुए सज्जन विपदा आने पर दुःखी नहीं होते। वे विपदाएँ अवश्य समाप्त हो जाएँगी—ऐसा विचार करते हैं ॥४४॥ (८७)

कर्म की महिमा

मनुष्यों को फल कर्म के अधीन मिलता है और उनकी बुद्धि कर्म के पीछे-पीछे चलती है, ऐसा जानते हुए भी बुद्धिमान् को विचार करके ही कार्य करना चाहिए ॥४५॥ (८९)

सत्कार्य का महत्त्व

हे साधो, अभीष्ट फल को प्राप्त करने की इच्छा से उस शुभ कर्म का आचरण कीजिए, जो शुभ कर्म दुष्टों को साधु बना देता है, मूर्खों को विद्वान् और शत्रुओं को हितकारी बना देता है। जो श्रेष्ठ कर्म परोक्ष को प्रत्यक्ष और हालाहल विष को तत्क्षण अमृत बना डालता है ॥४६॥ (९८)

विचार कर काम करना चाहिए

बुद्धिमान् को कार्य के आरम्भ करने से पूर्व बड़े यत्न से उस कार्य के गुण, दोष और परिणाम को अवश्य सोच लेना चाहिए। क्योंकि जल्दी में किए हुए कार्यों का हृदय को संतप्त करने वाला, पैने बाण के समान दुष्परिणाम, जब तक विपदा रहती है, तब तक दुःखी करता है ॥४७॥ (९९)

प्रश्न तथा उनके उत्तर

लाभ क्या है ? गुणी पुरुष की संगत। दुःख क्या है ? मूर्खों की संगत। कौन-सी हानि है ? समय का वृथा गुज़र जाना। कुशलता क्या है ? धर्म में अनुरक्ति। शूर कौन है ? जो इन्द्रियों पर विजयी है। प्रियतमा कौन-सी है ? अनुकूल चलने वाली। धन क्या है ? विद्या। सुख क्या है ? विदेश में न जाना। राज्य कौन-सा है ? जहाँ आज्ञाएँ मानी जाती हैं ॥४८॥ (१०३)

सच्चरित्र का लक्षण

हाथ से आघात करके भूमि पर गिराया हुआ गेंद फिर ऊपर उठता है। इसी प्रकार सदाचारियों को प्राप्त हुई विपदाएँ भी अस्थायी हुआ करती हैं। वे सदाचारी फिर गेंद के समान ऊपर उठते हैं ॥४९॥ (१०४)

धीरलक्षणम्

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्,
न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्,
नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥५०॥ (१०६)

शीलमहत्त्वम्

वह्निस्तस्य जलायते, जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्,
मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते,
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥५१॥ (१०९)

धीर की पहिचान

धीर पुरुष को यदि पीडा भी पहुँचाई जाए, तो उसके धैर्य गुण का नाश नहीं किया जा सकता। जैसे जलती हुई अग्नि की लपट का मुँह नीचे भी किया जाए तो भी उसकी लपट नीची नहीं होती, वह तो ऊपर ही उठती है ॥५०॥(१०६)

सच्चरित्र की महिमा

जिस व्यक्ति के शरीर के प्रत्येक अवयव में सभी लोगों को प्रिय लगने वाला शील विकसित हो जाता है, उस पुरुष के लिए आग जल बन जाती है, सागर छोटी-सी कूल बन जाता है, महान् मेरु पर्वत छोटी-सी शिला बन जाती है, सिंह हिरण, साँप पुष्पमाला और विष अमृत बन जाता है ॥५१॥(१०९)

सदाचार-सम्बन्धी

सुवचन-सुधा

ग्रन्थ के इस भाग में सदाचार-सम्बन्धी वेद तथा शास्त्रों की सूक्तियाँ दी गई हैं। ये एक क्रम से रखी गई हैं, जो कि इस प्रकार विषयों में विभक्त हैं—

मानव जन्म की श्रेष्ठता, मानव का स्वरूप—आत्मा तथा शरीर, शरीर को धारण करने वाला अन्न, अन्न से प्राप्त होने वाला बल, नीरोगता, मानव के लिए कर्म की प्रमुखता, पुरुषार्थ, धर्म तथा धर्म के मनु कथित दस अंग—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध।

इनसे भिन्न धर्म के कुछ और अंग—भद्रवचन, भद्रकर्म, भद्रमन, प्रेम, मौन, परोपकार, दान, समता, तप, संगति, संगठन, धन, सुख, कृषि, माता, पिता, स्त्री, पुत्र।

निषिद्ध कर्म—पाँचशत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, शोक, निन्दा, प्रमाद आदि।

मानव-जन्म

१. इयं हि प्रथमा योनिः ।(म. भा. शां. प. ३०३,३२)
यह मानव योनि सबसे मुख्य है ।

२. सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते । (म. भा. शां. प. २१६,२)
सभी प्राणियों में से पुरुष को श्रेष्ठ कहा है ।

मानव आत्मा और शरीर का संघात है ।

आत्मा

३. अदीनाः स्याम शरदः शतम् । (यजु. ३६,२४)
सौ वर्ष तक अदीन भाव से हम जीवित रहें ।

४. आत्मज्योतिरयं पुरुषः । (छा. उपनिषद्)
पुरुष में आत्मा ज्योतिर्मय है ।

५. आत्मा रक्ष्यः प्रयत्नेन । (वा. रामायण, सु. का. ४६,१५)
आत्मा की रक्षा के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए ।

६. एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः । (मनु. ४,२५२)
एकान्त स्थान में अकेले आत्म-हित का चिन्तन करना चाहिए ।

७. नात्मानमवमन्येत । (मनु. ४,१३७)
आत्मा का तिरस्कार करना उचित नहीं ।

८. सर्वविद्यानामात्म-ज्ञानं परं स्मृतम् । (मनु. १२,८५)
सब विद्याओं में से आत्म-ज्ञान की विद्या ऊँची विद्या है ।

शरीर

९. धर्मः शरीर-संगुप्तिः । (म. भा. शां. प. १२३,६)
शरीर की रक्षा धर्म है ।

१०. विद्वान् नावमन्येत देहम् । (म. भा. शां. प. १२०,४६)
विद्वान् को अपने देह का कभी निरादर नहीं करना चाहिए ।

११. शरीरमेवायतनं सुखस्य । (म. भा. अनु. प. १६६,२२)
सुख के भोगने का स्थान शरीर ही है ।

शरीर के बनाने में अन्न एक बड़ा भारी साधन है।

अन्न

१२. अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। (मनु. ३,११८)
जो केवल अपने लिए पकाता है, वह पाप का उपभोग करता है।

१३. आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति। (मनु. ५,४)
आलस के कारण और अन्न की दुष्टता के कारण विद्वानों का नाश हो जाता है। अर्थात् उनकी विद्या नष्ट हो जाती है।

१४. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। (छा. उप. ७,२६,२)
आत्म-शुद्धि का साधन आहार की शुद्धि है।

१५. केवलाघो भवति केवलादी। (ऋ. १०,११७,३)
जो केवल अपने आप खाता है, वह पाप का खाने वाला है। अर्थात् बांट करके खाना चाहिए।

१६. तदन्नमुपभोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम्। (वा. रामा. आ. का. ५५,१८)
उसी अन्न को सेवन करना उचित है, जो कि पच जाए और किसी प्रकार का रोग पैदा न करे।

१७. पय एवान्नं मनुष्याणाम्। (काठकसंहिता)
मनुष्यों के लिए दूध एक प्रधान अन्न है।

१८. मधुमदस्तु नो अन्नम्। (अथर्ववेद ६,११६,१)
हमारा अन्न माधुर्य से सम्पन्न हो।

१९. यात्रार्थमद्यात् आहारं, व्याधितो भेषजं यथा।
(म. भा. शां. प. २१४,१८)

जैसे कोई यात्रा को मुख्य मान कर उसको संपन्न करने के लिए आहार करता है, इसी प्रकार मनुष्य को जीवन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए अन्न खाना चाहिए। जैसे जीवित रहने के लिए रोगी दवाई का सेवन करता है।

२०. समानी प्रपा सह वो अन्नभागः। (अथर्ववेद ३,३,६)
आप सभी का पानी पीने का स्थान एक हो और सभी मिलकर अन्न का उपभोग करें।

अन्न से बल की प्राप्ति होती है। अतः बलवान् होना आवश्यक है।

बल

२१. उग्रा वः सन्तु बाहवः। (अथर्व. ३,१९,७)
आपकी भुजाएँ बलवती हों।

२२. ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम्। (यजुर्वेद ८,३९)
मैं मनुष्यों में बलवान् बनूं।

२३. बलफलं सद्रक्षणम्। (शुक्रनीति ३,६५)
शक्ति का प्रयोजन सज्जनों की रक्षा करना है।

२४. शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते। (म. भा. शां. प. १०३,१०)
वीर पुरुषों की भुजाओं पर यह संसार आश्रित है।

शारीरिक बल के नाश करने वाले रोग होते हैं। अतः रोग से मुक्त रहना चाहिए।

रोग

२५. मृतकल्पा हि रोगिणः। (म. भा. उद्यो. प. ३६,६५)
रोगी पुरुष मरे हुओं के समान होते हैं।

२६. व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थाः। (सौन्दरानन्द अश्वघोष ५,२७)
संसार में रोग जैसा दूसरा कोई अनर्थ नहीं।

मानव को कर्म अवश्य करना चाहिए।

कर्म

२७. अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः। (ऋ. १०,६०,१२)
यह मेरा (दहिना) हाथ काम करके ऐश्वर्य लाने वाला है, यह मेरा (बायाँ) हाथ काम करके उससे बढ़कर ऐश्वर्य का लाने वाला है।

२८. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। (अथर्व. २०,१८,३)
दिव्यशक्तियाँ जागने वालों की पर्वाह करती हैं, सोने वालों को वे नहीं चाहतीं।

२९. उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथर्व. ८,१,६)
हे पुरुष, तुझे ऊपर उठना है, नीचे नहीं जाना है।

३०. उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति। (मनु. ९,४०)
जो बीज बोया जाता है, वही उगा करता है। अर्थात् जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया जाता है, वैसा ही मनुष्य बनता है।

३१. कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते। (म. भा. व. प. ३२,३१)
पुरुष कार्य कर सकता है, अतः कार्य की सफलता पर उसकी प्रशंसा होती है।

३२. कर्मक्षेत्रं हि मानुष्यम्। (म. भा. अनु. प. २१६,१३)
मानव जीवन एक कर्मक्षेत्र है। अर्थात् यहाँ कर्म ही प्रधान है।

३३. कर्मभूमिरियं भूमिः। (म. भा. आश्व. प. १८,३४)
यह दुनिया कर्मभूमि है।

३४. कार्यध्वंसो हि मूर्खता। (शु. नी. ४,७,३६३)
काम को बिगाड़ देना मूर्खता है।

३५. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजु. ४०,२)
मनुष्य को काम करते हुए ही सौ साल की जीने की इच्छा करनी चाहिए।

३६. कृपणाः फलहेतुकाः। (म. भा. शां. प. १८,१३)
जो केवल फल की लालसा से कर्म करते हैं, वे कृपण अर्थात् दीन हैं।

३७. ध्रुवं न नाशोऽस्ति कृतस्य लोके। (म. भा. व. प. २३७,२७)
संसार में किए हुए का कभी नाश नहीं होता।

३८. पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। (छा. उप. ५,१०)
शुभ कर्म से मनुष्य अच्छा बनता है, बुरे कर्म से बुरा।

३९. मनःपूतं समाचरेत्। (मनु. ६,४६)
पहले मन से विचार करके काम को करना चाहिए।

४०. मनोवाक्कर्मगे धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः।
(म. भा. शां. प. ३१४,११)
उसी कर्म में आस्था रखनी चाहिए, जो कर्म मन, वाणी और कर्म में समान हो।

४१. यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः। (हितो० प्रस्तावना ३१)
यत्न करने पर भी यदि सफलता नहीं मिलती, तो कर्म करने वाले का कोई दोष नहीं। उसने अपना फ़र्ज़ पूरा कर दिया।

४२. श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः।
ज्ञानियों से कर्मशील श्रेष्ठ हैं।

पुरुषार्थ

४३. कर्त्तव्ये पुरुष व्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् । (म.भा. व. प. ३५,२२)
हे सिद्धपुरुष, काम के समय अजगर की भांति लेटे रहना उचित नहीं ।

४४. नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ।
(म. भा. सभा. प. २०,२०)
नीति, विजय और शक्ति कर्म करने से ही सफल होते हैं ।

४५. बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते । (म. भा. आश्व. प. १४३,२५)
कर्म करने से ही मनुष्य की बुद्धि की पहिचान होती है ।

४६. विद्या तपो वा विपुलं धनं वा सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम् ।
(म. भा. शां. प. १२०,८)
विद्या, तप और प्रचुर धन—सभी कुछ पुरुषार्थ से ही मिल सकते हैं ।

४७. श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतात्मभिः । (म. भा. शां. प. ६,१७)
जो कर्मशील नहीं, वे लक्ष्मी का उपभोग नहीं कर सकते ।

४८. सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः । (हितो. १,१७३)
पुरुषार्थ शील को अपने-आप ही सभी संपदाएँ प्राप्त होती हैं ।

धर्म और कर्म एक ही अर्थ में हैं ।

धर्म

४९. अशिष्टशासनं धर्मः, शिष्टानां परिपालनम् ।
(म. भा. अनु. प. २१५,११)
दुष्टों को अनुशासन में रखना और सज्जनों की रक्षा करना धर्म है ।

५०. न लिङ्गं धर्म-कारणम् । (मनु. ६,६६)
बाहर के चिह्न धर्म में प्रमाण नहीं ।

५१. न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । (मनु. ४,१७१)
न्याययुक्त व्यवहार (धर्म) करते हुए यदि कष्ट भी हो, तो भी अधर्म में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

५२. प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् । (म. भा. शां. प. १०९,१०)
धर्म का प्रवचन मनुष्यों की उन्नति के लिए किया गया है ।

मनुवर्णित धर्म के दस लक्षण—

१. धृति—संतोष

५३. अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम् । (म. भा व. प. २,४६)
तृष्णा का कहीं अन्त नहीं । जहां संतोष है, वहीं परम सुख है ।

५४. न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः । (नीतिशतक ८१)
धीर पुरुष कभी भी निश्चय की हुई बात से इधर-उधर नहीं होते ।

५५. मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् । (नीतिशतक ८२)
कर्मशील धीरपुरुष काम करते हुए न दुःख का ध्यान करता है और न सुख की लालसा करता है ।

५६. विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृत्तिः ।
(म. भा. शां. प. १११,३३)
विचार कर जब मैं देखता हूँ, तो मुझे सुख वहीं मालूम देता है, जहां संतोष (धैर्य) है ।

२. क्षमा

५७. क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव ।
(म. भा. आश्व. प. ११५,४१)
हे युधिष्ठिर, सभी तीर्थों में क्षमा (सहनशक्ति) परम तीर्थ है ।

५८. तितिक्षा धर्म उत्तमः । (म. भा. शां. प. १६०,१६)
सहनशीलता उत्तम धर्म है ।

३. दम

५९. दमस्तेजो वर्धयति । (म. भा. शां. प. २२५,४)
मन के वश करने से तेज बढ़ता है ।

६०. दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
(म. भा. शां. प. १५८,१०)
मन को वश करने जैसा दूसरा धर्म दुनिया में नहीं सुना ।

६१. पवित्रं दम उच्यते । (म. भा. शां. प. २२५,४)
मनो-निग्रह को बड़ा पवित्र कहा है ।

६२. सुखं दान्तः प्रस्वपिति । (म. भा. शां. प. २२५,५)
मन को वश में रखने वाला सुख की नींद सोता है ।

४. अस्तेय

६३. स्तेन आत्मापहारकः । (मनु. ४,२५५)
चोरी करने वाला अपने आप का चोर होता है ।

६४. स्तेनानां निग्रहादेव राष्ट्रं वर्धते । (मनु. ८,३०२)
चोरों को काबू करने से ही राष्ट्र की वृद्धि होती है ।

५. शौच

६५. शुचीनां हृदयं शुचिः। (म. भा. शां. प. १८१,१८)
हृदय की पवित्रता सभी पवित्रताओं से बढ़कर है।

६. इन्द्रिय-निग्रह

६६. इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। (मनु. ७,४४)
इन्द्रियों को जीतने में दिन-रात यत्न करना चाहिए।

६७. इन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्। (मनु. ६,७१)
प्राणों के निग्रह अर्थात् प्राणायाम से ही इन्द्रियों के सब दोष नष्ट हो जाते हैं।

६८. इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
(म. भा. व. प. २१५,२१)
इन्द्रियों का दास बनने से मनुष्य दोषी हो जाता है।

६९. इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
(म. भा. व. प. २१५,१७)
स्वर्ग और नरक ये इन्द्रियाँ ही हैं। इन्द्रियों का संयम स्वर्ग है और इन्द्रियों के अधीन होना नरक है।

७०. प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः। (मनु. ११,४४)
इन्द्रियों का दास बना हुआ प्रायश्चित्त का भागी होता है।

७१. स पुरुषो य खिद्यते नेन्द्रियैः। (हितोपदेश २,१३९)
पुरुष वही है, जो इन्द्रियों के कारण खिन्न नहीं होता।

७२. हरन्ति दोषजातानि नरमिन्द्रियकिङ्करम्।
(म. भा. अनु. प. ५१,१६)
जो मनुष्य इन्द्रियों का दास है, उसे दोष अपनी ओर खींच लेते हैं।

७. धीः

७३. आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः। (हितो. १,१६७)
जिनकी बुद्धि ठीक है, वे आपत्ति में भी मूढ नहीं होते।

७४. बुद्ध्या भयं प्रणुदति। (म. भा. उद्यो. प. ३९,७)
बुद्धि अर्थात् विचार से भय दूर होता है।

८. विद्या

७५. ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति। (म. भा. शां. प. ३०३,२)
ज्ञान के लाभ को परम लाभ कहते हैं।

७६. नास्ति विद्यासमं चक्षुः। (म. भा. शां. प. १७५,३५)
विद्या के समान दूसरी आँख नहीं।

७७. नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित्। (म. भा. व. प. ७०,८)
किसी भी एक पुरुष में ज्ञान की समाप्ति नहीं हो सकती।

७८. फलं ज्ञानस्य हि शमः। (म. भा. अनु. प. १५२,६)
ज्ञान का फल शांति है।

७९. सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन। (म. भा. व. प. ७०,८)
सभी कुछ कोई जान ले, यह नहीं हो सकता। क्योंकि कोई भी दुनिया में सर्वज्ञ नहीं।

९. सत्य

८०. अश्रद्धामनृते अदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। (यजु. १९,४७)
भगवान् प्रजापति ने झूठ में अश्रद्धा को और सत्य में श्रद्धा अर्थात् विश्वास को बनाया।

८१. अहमनृतात् सत्यमुपैमि। (यजु. १०,५)
मैं झूठ से अलग होकर सत्य को प्राप्त करता हूँ।

८२. आकूतिः सत्या मनसो मेऽस्तु। (ऋ. १०,१२८,४)
मेरे मन का भाव सच्चा हो।

८३. इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मधु। (बृ. उप. २,५,१२)
सभी प्राणियों के लिए यह सत्य ही मधु है।

८४. ऋतस्य गोपा न दभाय। (ऋ. ९,७३,८)
सत्य के पालन करने वाले का कभी नाश नहीं होता।

८५. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। (ऋ. ९,७३,६)
पापीजन सत्य के मार्ग का अवलम्बन नहीं करते।

८६. तदेतत् पुष्पं फलं वाचः यत्सत्यम्। (बृ. उप. २,३,६)
वाणी का यह फूल तथा फल है, जो सत्य है।

८७. धर्मः सत्येन वर्धते । (मनु. ८,८३)
सच्चाई से ही धर्म बढ़ता है ।

८८. नास्ति सत्यसमो धर्मः । (म. भा. अनु. प. ६७,६६)
सच्चाई के समान दूसरा धर्म नहीं है ।

८९. सत्यस्य नावा सुकृतं अपीपरन् । (ऋ. १,७३,१)
सत्य की नौका से ही शुभ कर्म को प्राप्त करते हैं ।

क्रोध से दूसरे की हिंसा होती है, अतः अक्रोध का अर्थ अहिंसा है ।

१०. अक्रोध (अहिंसा)—

९०. अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।
(म. भा. शां. प. २१,११)
सज्जन उसी को धर्म मानते हैं, जिसमें किसी का द्रोह न हो ।

९१. अभयं तीर्थमुच्यते । (म. भा. आश्व. प. ११६)
अभय को तीर्थ कहा है ।

९२. अहिंसा तीर्थमुच्यते । (म. भा. आश्व. प. ११६)
अहिंसा को तीर्थ कहा है ।

९३. अहिंसालक्षणो धर्मः । (म. भा. आश्व. प. ४३,२१)
धर्म का लक्षण अहिंसा है ।

९४. आनृशंस्यं परो धर्मः । (म. भा. शां. प. २३४,११०)
निर्दयता का अभाव परम धर्म है ।

९५. वर्जयेत् प्राणिनां हिंसनम् । (मनु. २,१७७)
जीवों को कष्ट देना छोड़ दीजिए ।

९६. हिंसा चाधर्मलक्षणा । (म. भा. आश्व. प. ४३,२१)
हिंसा पाप का स्वरूप है ।

धर्म के अन्य अंग—

भद्रवचन

९७. कः परः प्रियवादिनाम् । (हितो. २,१३)
प्रिय बोलने वालों के लिए कोई पराया नहीं ।

९८. गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ।
(वा. रा. यु. का. १६,२६)
कालग्रस्त मनुष्य मित्रों की हित वाणी को नहीं सुनते ।

९९. चारु वदानि पितरः संगतेषु । (अथर्व. ७,१२,१)

हे विद्वानो, मैं सभाओं में सुन्दर वचन बोलूं ।

१००. जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शांतिवाम् । (अथर्व. ३,३०,२)
पत्नी पति से मधुमयी और शांति देने वाली वाणी बोले ।

१०१. जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम् । (अथर्व. १,३४,२)
मेरी जिह्वा के अग्र-भाग में मधु हो, मेरी जिह्वा के मूल में भी मधु हो । अर्थात् मैं सदा मधुर बोलूँ ।

१०२. भद्रं भवतु मे वचः । (पैप्पलाद संहिता १०,१५,१)
मेरे वचनों में भद्रता हो ।

१०३. यत्कल्याणं वदति तदात्मने । (बृ. उप. १,३,२)
मनुष्य जो वाणी से कल्याण बोलता है, वह आत्मा के लिए बोलता है । अर्थात् उससे आत्म-कल्याण होता है ।

भद्र मन

१०४. भद्रं नो अपि वातय मनः । (ऋ. १०,२५,१)
मेरे मन में भले भाव हों ।

१०५. भद्रं श्लोकं भूयासम् । (अथर्व. १६,२,७)
मेरी कीर्ति भली हो ।

भद्र कर्म

१०६. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु । (ऋ. १,८९,१)
मुझे चारों ओर से भले कर्म प्राप्त हों ।

१०७. दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम् । (मनु. ६,४६)
आँख से देखकर पग रखना चाहिए ।

१०८. यश्च धर्मः स सत्पथः । (म. भा. शां. प. १२१,५७)
जो सज्जनों का मार्ग है, वही धर्म है ।

१०९. स्वस्ति पन्थामनुचरेम । (ऋ. ५,५१,१५)
हम कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें ।

प्रेम

११०. अन्योऽन्यमभिहर्यत । (अथर्व. ३,३०,१)
एक-दूसरे से प्रेम करो ।

१११. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजु. ३६,१८)
हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

मौन

११२. मौनं ज्ञानं प्रयच्छति। (म. भा. अनु. प. ६२,७)
मौन से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

परोपकार

११३. उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। (हितो. १,७१)
जिनका चरित्र उदार है। सारी पृथिवी के प्राणी उनके कुटुम्ब के सदस्य हैं।

११४. धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्। (हितो. १,४४)
बुद्धिमान् परोपकार के लिए अपना तन और धन लगा दे।

११५. परोपकारायैव सतां विभूतयः।
सज्जनों का सभी कुछ उपकार के लिए ही होता है।

समता

११६. तत्र कः मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः। (यजु. ४०,७)
जो सब जगह समानता की भावना रखता है उसे न शोक होता है, न मोह।

११७. प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये। (अथर्व. १९,६२,१)
सभी का प्रिय देखिए, चाहे वह शूद्र हो या आर्य।

संगठन

११८. संहतिः श्रेयसे पुंसाम्। (हितो. १,३६)
पुरुषों का संगठन कल्याण के लिए होता है।

११९. संगच्छध्वं संवदध्वम्। (ऋ. १०,१९१,१२)
मिलकर चलो और मिलकर बोलो।

संगति

१२०. आप्नुहि श्रेयांसम्। (अथर्व. २,११,४)
कल्याणकारी पुरुष के पास जाना चाहिए।

१२१. जानता संगमेमहि। (ऋ. ५,५१,१५)
हम ज्ञानी पुरुषों का संग करें।

१२२. देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्।

हम विद्वानों से मैत्री करें।

तप*

१२३. तपसा तदवाप्यं हि यन्न शक्यं मनोरथैः।
(म. भा. अनु. प. ८६,२६)
तप से वह सब कुछ मिल जाता है, जो मनोरथों की गति से भी परे है।

१२४. तपोमूलं सर्वं सुखम्।
तप सब सुखों का मूल है।

१२५. तपोमूलं हि साधनम्। (म. भा. आश्व. प. ५१,६)
एक तप ही सभी सिद्धि का साधन है।

शील

१२६. अप्रमाणा प्रसूतिर्हि शीलतः क्रियते कुलम्।
(म. भा. शां. प. ६३,२७)
कुल के अच्छा होने में जन्म प्रमाण नहीं, अपितु शील से कुल बनता है।

१२७. वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।
(म. भा. उद्यो. प. ८८,५२)
सदाचार से आर्य बनता है, धन और विद्या से नहीं बनता।

१२८. साध्वाचाराः साधुधर्मं वदन्ति। (म. भा. शां. प. ६३,२७)
सदाचारी पुरुष ही सद्धर्म का उपदेश करते हैं।

धन

१२९. आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्। (मनु. ४,१३७)
मृत्युपर्यन्त धन का उपार्जन करना चाहिए।

१३०. ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते पर-स्तवम्।
(वा. रा. अयो. का. २६,२५)
समृद्धि से युक्त पुरुष दूसरे की स्तुति को नहीं सुन सकते।

१३१. ऋद्धिश्चित्तविकारिणी। (हितो. २,१०१)
ऐश्वर्य की प्राप्ति चित्त में विकार पैदा कर देती है।

*सरदी, गरमी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन करना 'तप' है।

१३२. ऐश्वर्यमदमत्तो हि सर्वोऽहमिति मन्यते।

(वा. रा. सु. का. ६४,१८)

ऐश्वर्य के मद से मतवाला होकर मनुष्य 'मैं ही सब कुछ हूँ' ऐसा मानने लगता है।

१३३. मलोऽर्थस्य निगूहनम्। (म. भा. शां. प. १२३,१०)

धन का गाड रखना पाप है।

१३४. श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।

(म. भा. उद्यो. प. ४२,३१)

धन सुख का भी कारण है और वह जीवन-मार्ग का एक लुटेरा भी है।

१३५. स्वैः कर्मभिरगर्हितैः कुर्वीत धन-संचयम्। (मनु. ४,३)

सदा अपने शुभ कर्मों द्वारा ही धन का उपार्जन करना चाहिए।

दान

१३६. क्षरति दानं च परिकीर्तनात्। (मनु. ४,२३७)

जगह जगह कहने से दान का महत्त्व नष्ट हो जाता है।

१३७. दानशूरो विशिष्यते। (म. भा. शां. प. १२,११)

दानवीर पुरुष विशिष्ट पुरुष है।

१३८. दानं हि महती क्रिया। (म. भा. अनु. प. ३०,२८)

दान एक बड़ा उत्तम कार्य है।

१३९. नास्ति दान समो विधिः। (म. भा. अनु. प. ६७,६६)

दान के तुल्य कोई और विधान नहीं।

१४०. नास्ति भूमिसमं दानम्। (म. भा. अनु. प. ६७,६६)

भूमिदान के तुल्य दूसरा दान नहीं।

१४१. पुनर्ददता········ संगमेमहि।

जो दानी हैं, उनका हम संग करें।

१४२. मा मा वोचन्नराधसं जनासः। (अथर्व. ५,११,८)

मुझे लोग अनुदार अर्थात् कञ्जूस न कहें।

१४३. राग-द्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा।

(म. भा. शां. प. १६०,१७)

जिस मनुष्य में राग तथा द्वेष नहीं, उसी का त्याग वास्तव में त्याग है, दूसरे का नहीं।

१४४. शांति त्यागेन विंदति। (म. भा. उद्यो. प. ३६,५०)
त्याग अर्थात् दान से ही शांति मिलती है।

नीचे लिखे पाँच बड़े भारी शत्रु हैं, इनसे बचना चाहिए।

काम

१४५. कामः शरीरे हृदयं दुनोति। (म. भा. उ. प. २६,७)
काम—वासना—सदा हृदय को पीड़ा देता है।

१४६. कामो हि विविधाकारः। (म. भा. शां. प. १६५,३३)
काम की भिन्न-भिन्न शकलें हैं।

१४७. नास्ति तृष्णा समं दुःखम्। (म. भा. अनु. प. २४४,३०)
तृष्णा के समान दूसरा दुःख नहीं।

१४८. वामः कामो मनुष्याणाम्। (वा. रा. सु. का. २२,८)
काम मनुष्यों को उलटे मार्ग पर डाल देता है।

१४९. समुद्र इव हि कामोऽपरिमितः। (काठ. सं. ६,१२)
समुद्र के समान काम की कोई सीमा नहीं।

क्रोध

१५०. कोपं नियच्छन्ति हि सत्त्ववन्तः। (वा. रा. सु. का. ५२,१६)
आत्मवान् क्रोध को रोक लेते हैं।

१५१. क्रोधमूलो हि विग्रहः। (म. भा. व. प. २६,२१)
झगड़े का मूल कारण क्रोध है।

१५२. क्रोधं कामस्य सहायं चासृजत् प्रभुः। (म.भा. अनु.प. ७५,१०)
प्रभु ने काम के सहायक रूप क्रोध को पैदा किया।

१५३. क्रोधाद्दानफलं हन्ति। (म. भा. आश्व. प. ६२,८१)
क्रोध करने से दान का फल नष्ट हो जाता है।

१५४. नियन्तव्यः सदा कोपो वालवृद्धातुरेषु च। (हितो. ३,१२०)
वालों, वृद्धों और रोगियों पर कभी क्रोध नहीं करना चाहिए।

लोभ

१५५. एको लोभो महाग्राहो, लोभात्पापं प्रवर्तते।
(म. भा. शां. प. १५६,२)
लोभ एक बड़ा भारी मगरमच्छ है। लोभ से पाप की प्रवृत्ति होती है।

१५६. यो न पूरयितुं शक्यः लोभः प्रीत्या कथंचन।
(म. भा. शां. प. १५६,१२)
लोभ की पूर्ति कभी प्रीति से नहीं हो सकती।

१५७. लोभ-मोह समाविष्टं न दैवं त्रायते नरम्।
(म. भा. अनु. प. ६,४४)
लोभ और मोह से जो पुरुष युक्त है, उसकी कोई रक्षा नहीं कर पाता।

मोह

१५८. प्रज्ञा-नाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थ-नाशकः।
(म. भा. शां. प. १२३,१६)
मोह बुद्धि का नाशक तथा धर्म और अर्थ का नाशक है।

अहंकार

१५६. अहंकार-निवृत्तिर्हि निर्वाणायोपपद्यते।
(म. भा. अनु. प. २४५,२७)
मोक्ष के लिए 'अहं' भाव का छूट जाना आवश्यक है।

१६०. तपः क्षाति विस्मयात्। (मनु. ४,२३७)
अहंकार से तप नष्ट हो जाता है।

१६१. दर्पो नाम श्रियः पुत्रः। (म. भा. शां. प. ६०,२७)
अभिमान लक्ष्मी का पुत्र है।

१६२. सर्वे लाभाः साभिमानाः। (म. भा. शां. प. १७८,१०)
सभी प्रकार की प्राप्तियों में अभिमान पैदा हो जाता है।

शोक

१६३. अलमश्रुप्रपातेन त्यज शोकमनर्थकम्। (वा. रा. सु. का. २४,३४)
रोना-धोना बन्द कीजिए। इस अकर्थकारी शोक को छोड़ दीजिए।

१६४. तरति शोकमात्मवित्। (छा. उप. ७,१,३)
आत्म-ज्ञानी शोक से पार हो जाता है।

१६५. न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित्।
(म. भा. व. प. २५०,३७)
शोक करते हुए शोक हटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता है।

फूट

१६६. भेदात् विनाशः सङ्घानाम्। (म. भा. शां. प. ८१,८५)
सङ्घों का नाश फूट के कारण होता है।

१६७. कस्यचिन्न स्पृशेन्मर्म, मिथ्यावादं न कस्यचित् (कुर्यात्)।
(शु. नी. ३,६२)

किसी की दुखती रग को छूना नहीं चाहिए। किसी के सम्बन्ध में झूठा अपवाद नहीं करना चाहिए।

१६८. तूष्णीमासीन्निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः।
(म. भा. शां. प. २५१,५०)

जब कोई निन्दा कर रहा हो, तो चुप रहना ही ठीक है। यह मानो अपनी चिकित्सा है।

१६९. न वाच्यः परिवादो वै, न श्रोतव्यः कथंचन।
(म. भा. शां. प. १३२,१२)

न दूसरे की निन्दा करनी और न सुननी चाहिए।

दीनता

१७०. स्वदैन्यं दर्शयेन्नहि। (शु. नी. ३,५८)

अपनी दीनता का प्रदर्शन करना नहीं चाहिए।

सदाचार

१७१. मार्गं निरुध्य न स्थेयम्। (शु. नी. ३,२६५)
रास्ता रोककर खड़ा होना उचित नहीं।

प्रमाद

१७२. प्रमादात् स्खलते बुद्धिः, स्खलतो नास्ति जीवितम्।
(म. भा. शां. प. ८२,२४)

प्रमाद से बुद्धि नष्ट होती है। नष्ट बुद्धि वाले का जीवन निरर्थक है।

जुआ

१७३. अक्षैर्मा दीव्यः। (ऋ. १०,३४,१३)
डालों से जुआ न खेलो।

१७४. कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति। (म. भा. उद्यो. प. ३६,६८)
बुद्धिमान् जुए का कभी सेवन नहीं करते।

१७५. द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्। (म. भा.)
बुद्धिमान् को हंसी में भी जुआ नहीं खेलना चाहिए।

गृहस्थ

१७६. गृहाश्च नित्यं वीणावदना हसामुदा भवन्ति।
(श. ब्रा. १३,१,५,१)
घरों में सदा बाजे बजते रहें और हंसी-खुशी हो।

१७७. गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा। (श. ब्रा. ३,३,१,१०)
घरों की प्रतिष्ठा पत्नी के कारण है।

कुछ अन्य सूक्तियाँ—

पिता

१७८. पिता परं दैवतं मानवानाम्। (म. भा. शां. प. ३०३,२)
मनुष्यों के लिए 'पिता' देवता है।

माता

१७९. नास्ति मातृसमो गुरुः। (म. भा. अनु. प. ६७,६६)
माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं।

स्त्री

१८०. अर्धो वै एष आत्मनो यत्पत्नी। (तै. ब्रा. ३,८,२३)
पत्नी पति का आधा भाग है।

पुत्र

१८१. अनुव्रतः पितुः पुत्रः, मात्रा भवतु संमनाः। (अथर्व. ३, २)
पिता के अनुकूल तथा माता के अनुकूल ही पुत्र को होना चाहिए।

सुख-दुःख

१८२. चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च। (हितो. १,१७४)
दुःख और सुख रथ के चक्र की तरह घूमते हैं।

१८३. सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु. ४,१६०)
सब कुछ अपने अधीन होना सुख है।

१८४. सर्वं परवशं दुःखम्। (मनु. ४,१६०)
सब कुछ दूसरे के अधीन होना दुःख है।

१८५. सुखं शांतः प्रस्वपिति, सुखं च प्रतिबुध्यते ।
(म. भा. शां. प. १५८,१२)

शांत पुरुष सुख से सोता है और सुख से जागता है ।

१८६. सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यम् ।
दुःखेन साध्वि लभते सुखानि ।। (म. भा. व. प. २३५,४)

सुख सुख से नहीं मिलता, प्रत्युत परिश्रम के कष्ट से सुख मिलता है ।

मिश्रित

१८७. अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः ।
(म. भा. शां. प. १३८,१५२)

सारी दुनिया स्वार्थी है, कोई किसी का प्यारा नहीं ।

१८८. अवश्यं प्राणिनां प्राणा रक्षितव्या यथाबलम् ।
(वा. रा. यु. का. ६,१४)

शक्ति के अनुसार प्राणिमात्र की रक्षा अवश्य करनी चाहिए ।

१८९. कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ।
(म. भा. शां. प. १११,८६)

दुनिया अपने स्वार्थ का अधिक ध्यान करती है । हृदय में प्यार रखने वाले दुर्लभ हैं ।

१९०. तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णः, मृदुकाले मृदुर्भवेत् ।
(म. भा. शां. प. १४ ,६५)

तीक्ष्णता के समय तीक्ष्ण और कोमलता के समय कोमल होना चाहिए ।

१९१. न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति ।
(म. भा. शां. प. २०३,५)

सामूहिक दुःख का एक व्यक्ति परिहार नहीं कर सकता ।

१९२. राजा मित्रमिति ज्ञात्वा न कार्यं मनसेप्सितम् ।
(शु. नी. ३, ६)

'शासक मेरा मित्र है' ऐसा समझ कर मन-माना (अनियमित) काम नहीं करना चाहिए ।

१६३. शिक्षार्थं विहितो दण्डो न वधार्थं विधीयते।
(म. भा. शां. प. १३५,२०)
दण्ड शिक्षा के लिए होता है, मारने के लिए नहीं।

१६४. संनतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्।
(वा. रा. सु. का. ६४,१६)
अयि मानव ! तुम्हारी नम्रता भावी योग्यता का कथन करती है।

१६५. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः। (छा. उ. ६,४)
इन सब प्रजाओं के मूल में एक सत्ता (ईश्वर) है।

१६६. सभां वा न प्रवेष्टव्यं, वक्तव्यं वा समञ्जसम्। (मनु. ८,१३)
या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए। अन्यथा (प्रवेश करने पर) ठीक-ठीक बोलना उचित है।

१६७. समस्थमुपजीवन् वै विषमस्थं कथं त्यजेत्।
(म. भा. अनु. प. ११,२६)
सुख के समय में साथ देने वाले को दुःख की अवस्था में छोड़ना नहीं चाहिए।

१६८. सरस्वतीं सुकृतो ह्वन्ते। (अथर्व. १८,१,४१)
पुण्यशाली ही सरस्वती (विद्या) का आह्वान करते हैं।

१६९. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (अथर्व. १९,१५,६)
सभी दिशाएँ मेरी मित्र हों।

२००. हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्।
(वा. रा. कि. का. १४,७)
हृदय में स्थित आत्मा सभी प्राणियों के शुभ-अशुभ को जानता है।

श्लोकानुक्रमणिका





संक्षिप्त मनुस्मृति

संकलनकर्ता तथा अनुवादकर्ता—देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर

मूल्य ३.५०

स्मृतियों में सभी प्रकार के लोक-व्यवहार के नियम हैं। अतः स्मृति-शास्त्र को 'व्यवहार-शास्त्र' कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

"प्राचीन स्मृतिकारों में भगवान् मनु का नाम सर्वप्रथम है। मनु वह प्रथम महापुरुष थे जिन्होंने प्रजापालन, जीव के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक आचार-व्यवहार नियत किए। उस विशाल ग्रन्थ का यह लघुकाय संग्रह वर्तमान युग की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए संपन्न किया है। यह संक्षेप आवश्यकता को दृष्टि में रख कर किया गया है। क्योंकि व्यवस्थाएँ देश-काल की सीमा से बंधी हुई नहीं होती। इस संग्रह में वही बातें ली गई हैं, जो शाश्वत तथा वर्तमान काल में उपयोगी हैं। सरल हिन्दी में अर्थ किए गए हैं, जिनसे थोड़े पढ़े-लिखे लोग भी मनु के भावों को जान सकें।"

—सप्तसिंधु पटियाला

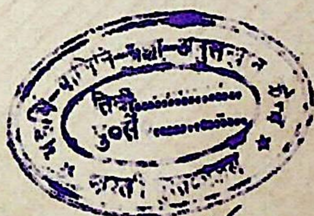
"जन-समाज मनु महाराज के विचारों से अवगत होकर उससे लाभान्वित हो सके इसी विचार से इस ग्रन्थ की रचना की गई है। पुस्तक की भाषा सरस एवं सजीव है। प्रत्येक श्लोक का अलग-अलग अर्थ देकर इसे बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक के प्रकाशन से प्रकाशक तथा मुद्रक ने हिन्दु-समाज का जो उपकार किया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाए वह कम ही है। यह सरल ग्रन्थ प्रत्येक के लिए पठनीय है। —पांचजन्य लखनऊ

"श्री स्वामी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने 'वेदकोष' बनाना आरम्भ किया था, वही पुण्य कार्य अब विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान ने श्रुति उपरान्त स्मृति रूप में अग्रसर किया है। भगवान् मनु ने आचार-व्यवहार की शिक्षा को उपदेशों के रूप में दिया। उन्हीं उपदेशों के ग्रन्थ का एक लघु संग्रह है। छपाई सफाई उत्तम है। ग्रन्थ संग्रहणीय है।" —आर्यमित्र लखनऊ

"इस संकलन की विशेषता और उपयोगिता इस लिए भी अधिक बढ़ गई है कि प्रत्येक श्लोक के ठीक सामने सम्बद्ध प्रसंग शीर्षकों के साथ उसका हिन्दी अनुवाद दे दिया है। हम शास्त्री जी से संस्कृत के इस प्रकार के अन्यान्य ग्रन्थों के भी ऐसे ही संस्करणों की आशा करेंगे। पुस्तक के अन्त में श्लोकों की अनुक्रमणिका भी दी गई है।"

—परिषद् पत्रिका इलाहाबाद

विश्वेश्वरानन्द पुस्तक भण्डार,
साधुआश्रम, होशियारपुर





13-3-87